श्रीवादिदेवसूरिसंदृब्धः

श्रीप्रमाणनयतत्त्वालोकः

(सूत्रबद्धो जैनदर्शनग्रन्थः)

षड्दर्शनप्रौढपण्डितश्रीमद्रामगोपालाचार्य-
कृतबालबोधिन्या टिप्पण्या संवलितः ।

स च—

न्याय-साहित्यतीर्थ-तर्कालङ्कारमुनिराजेन
श्रीहिमांशुविजयेन संशोधितः

न्याय-साहित्य-व्याकरणतीर्थमुनिराजेन
पूर्णानन्दविजयेन संपादितः ।

वीर संवत २४९६] धर्म सं० ४८ [विक्रम सं० २०२६

प्रकाशक
शेठ श्री. केशवलाल लल्लुभाई झवेरी
ट्रस्टी :
अबालीपोळ जैन उपाश्रय कार्यालय
झवेरीवाड, अमदावाद.

मूल्यम १-५०

मुद्रक
जयंती दलाल
वसंत प्रीन्टींग प्रेस,
घीकांटा, अमदावाद.

प्रकाशकीय

मुनिराजश्री पूर्णानन्दविजयजी (कुमारश्रमण) अमारी विनंतिथी गत-चातुर्मासमां पर्युषणपर्व निमित्ते आचार्य श्रीकीर्तिसागरसूरीश्वरजी म०नी आज्ञाथी झवेरीवाड–आंबली पोळना उपाश्रये रह्या हता. एमनां विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानो सांभळीने अमने आनन्द थयो हतो. एक प्रसंगे तेमणे आ प्रमाणनयतत्त्वालोक ग्रन्थ फरीथी छपाय तो साधु-साध्वीसमुदायने अने प्रमाणशास्त्रना विद्यार्थीओने उपयोगी थाय, ए हेतुथी तेमणे वात करी अने तेमनी वात अमे सहर्ष वधावी लीधी. परिणामे आ ग्रन्थनुं प्रकाशन अमे आंबलीपोळ जैन उपाश्रयना ज्ञानखाता तरफथी करी शक्या छीए. आ ग्रन्थमां मुनिराज श्री. पूर्णानन्दविजयजीए पहेलेथी छेवट सुधी खूब उत्साह बताव्यो छे. पं. श्री. अंबालाल प्रेमचंद शाहे प्रुफ रीडींग अने बीजी व्यवस्था करी अमने निश्चित बनाव्या छे. पं. श्री. दलसुख मालवणियाए उपोद्घात लखी आपी आ ग्रन्थने शोभाव्यो छे, मुद्रक श्री. जयंती दलाले आ ग्रन्थने सुन्दर रीते छापी आप्यो छे ते बदल सौनो अमे आभार मानीए छीए. विद्यार्थीओ आ ग्रन्थनो लाभ लेशे तो अमारा सौनो प्रयत्न सार्थक गणाशे.

अमे छीए

आंबली पोळना ट्रस्टीओ

संपादकीय

घणा लांबा समयथी 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' नामक मूळ ग्रन्थ अलभ्य हतो त्यारे एनी बीजी आवृत्ति छपाय छे ए गौरव लेवा जेवी वात छे.

जगत्पूज्य शास्त्रविशारद स्व. जैनाचार्य श्री १००८ श्री. विजयधर्मसूरीश्वरजी म. सा. नी कृपार्थी आ ग्रन्थ कलकत्ताना राजकीय संस्कृत विद्यालयमां जैन श्वेताम्बर न्यायनी प्रथम परीक्षामां दाखल थयो त्यारथी अत्यार सुधी आनुं पठन-पाठन अविरत चालु ज छे.

वादिचक्रचक्रवर्ती, पूज्य श्री. वादिदेवसूरिजीनो 'स्वोपज्ञ-स्याद्वाद रत्नाकर' तो आछापातळा पंडितोने माटे पण रत्नाकर जेवो ज छे अने ते पूज्य आचार्यना शिष्यरत्न सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न रत्नप्रभसूरिजीनी 'रत्नाकर-अवतारिका' व्याघ्रमुखी होवाथी तेमां प्रवेश पामवो अत्यन्त कष्टसाध्य छे.

आवा समये बालजीवोने माटे, अने न्यायमां प्रवेश पामता प्राथमिक अभ्यासीओ माटे पण सरळ अने तार्किक ज्ञान माटे समर्थ छतां नानी टीकानी जरूरत हती ज, आ वात ध्यानमां लईने ज परमदयालु आजीवन विद्योपासक मारा गुरुदेव शासनदीपक स्व. श्री. विद्याविजयजी महाराजश्रीए ते वखतना 'वीरतत्त्व प्रकाशक मंडळ' शिवपुरी संस्थाना आदरणीय विद्वन्मान्य पंडितजी श्री. रामगोपाला-

चार्यजी ने अनुरोध कर्यो अने ए सरस्वतीपुत्रे आ बालबोधिनी टीका जे प्रकारे पोते भणावता हता ते पद्धतिए ज रची छे.

आ प्रकारे आ नानी टीकानो जन्म थयो छे.

संक्षेपमां पण न्यायसूत्रोना मर्मने समजावनारी आ टीकानुं ए ज साफल्य छे के एनी बीजी आवृत्ति प्रसिद्धिमां आवी रही छे.

आठ परिच्छेदोमां आ ग्रन्थ पूरो थाय छे.

प्रथम परिच्छेदमां 'प्रमाण शुं होई शके?' एनी विशद चर्चा करीने सम्यग्ज्ञाननी प्रामाणिकता सिद्ध करी छे.

बीजा परिच्छेदमां सम्यग्ज्ञाननां अने तेना अवान्तर भेदोनां लक्षणो श्रद्धा स्थिर करावे एवां छे.

त्रीजा परिच्छेदमां परोक्ष प्रमाणनां लक्षणो अने तेना भेदो, जेवा के हेतु, व्याप्ति, तर्क, दृष्टान्त, उपनय, निगमन-ए पांच अवयवोनुं विस्तारथी पण स्पष्ट कथन छे.

चतुर्थ परिच्छेदमां आगमप्रमाणनी चर्चा छे, आगमकार कोण? एनी स्पष्टता करीने तीर्थंकरवचनने ज आगमप्रमाण मान्य कर्युं छे. साथोसाथ शब्द ए पुद्गल छे अने पुद्गल द्रव्य ज होय छे, गुण नहीं, आ प्रमाणे शब्दोनुं पौद्गलिकत्व सिद्ध करीने सप्तभंगीनुं निरूपण स्पष्टरूपे जोवा मळे छे.

पांचमा परिच्छेदमां प्रमाणना विषयभूत प्रमेयनी चर्चा छे.

छठ्ठा परिच्छेदमां प्रमाण विषयनी चर्चा अने प्रमाणनां फलोनी मीमांसा करी छे.

सातमा परिच्छेदमां नयविषयक ज्ञान उदाहरणो साथे बहु ज विस्तारथी जाणवा मळे छे.

आठमा परिच्छेदमां वाद, जिगीषु आदिनां लक्षणो पूर्वक वादी, प्रतिवादी, सभा, सभ्य, वादस्थाननां लक्षणो बताव्यां छे.

विद्वद्वर्य शान्तस्वभावी स्व. मुनिराज श्री. हिमांशुविजयजी म. श्रीए आ ग्रन्थनुं संशोधन कर्युं हतुं अने ते पहेली आवृत्तिनी ज प्रस्तावना साथे कंई पण फेरफार कर्या वगर अमे फरीथी जोई गया छीए, जेनुं आ द्वितीय मुद्रण छे.

विक्रम सं. २०२५ नां पर्युषण आंबली पोळ जैन उपाश्रयना ट्रस्टीओना आग्रहने लईने मारे अहीं करवानां हतां ते प्रसंगे आगेवानोने आ पुस्तकनी उपादेयता माटे वात करी हती.

मने जणावतां अत्यन्त आनंद थाय छे के उपाश्रयना मुख्य ट्रस्टी शेठ श्री. केशवलाल लल्लुभाई झवेरीए अने बीजा आगेवानोए पण आनाकानी कर्या वगर आ पुस्तकने फरीथी छपाववानो प्रबंध आंबली पोळ जैन उपाश्रयना ज्ञानखातामांथी कर्यो छे, ते बदल तेमने खूब खूब धन्यवाद.

पंडितप्रवर श्रीमान् अंबालाल प्रेमचंद शाह, जे मारा प्राथमिक विद्यागुरु छे तेमनी महेनत पण धन्यवादने पात्र छे, ए मारे कबूल करवुं रह्युं.

परमपूज्य गुरुदेवोनो फरीथी उपकार मानीने संपादकीय निवेदन पूरुं करुं ते पहेलां–जैन समाजनी धार्मिक पाठशाळाना संचालकोने, अने न्यायनुं पठन करवा मांगता पू. साधु–साध्वीजी महाराजाओने साग्रह निवेदन करीश के तर्कसंग्रहना बदले 'प्रमाणनयतत्त्वालोक'-ना पठनमां वधारे आग्रह राखशो, कारण के; शरूआतमां प्रमाणनय-तत्त्वालोकने भणतां आपणी श्रद्धा स्थिर थशे अने जैनशासनना मूळभूत विषयो जेवा के सम्यग्ज्ञान, केवळज्ञान, केवळी भगवान्, शब्दनी पुद्गलता, आप्तवचन, श्री जैनागम, आगमसिद्धि, सर्वज्ञसिद्धि, सामान्य-विशेषात्मक प्रमेय, सप्तभंगी अने नयोनी विशद व्याख्याथी आपणुं हृदय जैनशासननी वफादारी स्वीकारवा तैयार थशे, ते उपरांत तर्कसंग्रहनो पूरेपूरो विषय 'प्रमाणनय....' पुस्तकना तृतीय परिच्छेदमां समायेलो छे. माटे न्यायना अभ्यास माटे प्रमाणनय-तत्त्वालोक सिवाय बीजो कोई ग्रन्थ नथी ज एटलुं निवेदन अहीं पर्याप्त थशे.

आंबलीपोळ, झवेरीवाड–अमदावाद
मागसर सुदि १०
धर्म सं. ४८, वि. २०२६

पूर्णानन्दविजय

उपोद्घात

गुजरातमां दर्शनविद्या प्राचीन काळथी प्रचलित हती. तेमां जैन आचार्योए नोंधपात्र फाळो आप्यो छे. आचार्य मल्लवादीनुं नयचक्र विक्रमनी पांचमी शतीमां समग्र भारतीय दर्शनधाराओनो समावेश करीने रचायुं छे. आचार्य हरिभद्रे पण षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय अने धर्मसंग्रहणी जेवा ग्रन्थो रचीने दार्शनिक तत्त्वविचारणा करी छे. परंतु प्रमाणविद्या विषे आचार्य वादी देवसूरि (वि. ११४३-१२२६)ना 'प्रमाण-नयतत्त्वालोक'नुं अनोखुं स्थान छे; कारण, तेमणे तत्त्वविचारणाना साधन प्रमाणने केन्द्रमां राखीने ते ग्रन्थनी रचना करी छे. भारतीय दर्शननोना विचार-विकासमां प्रमेयविचारणा तो घणा काळथी थती हती पण न्यायसूत्र पछी प्रमाणने कोईए महत्त्व आप्युं होय तो ते बौद्धोए. एटले त्यार पछी प्रमाणविद्या विषे विस्तृत साहित्य रचायुं छे, प्रमाणकेन्द्रित जैनदार्शनिक साहित्यनी खोटनी पूर्ति करवानो एक प्रयत्न 'न्यायावतार'मां सिद्धसेने कर्यो अने तेना विवरणनो प्रयत्न जिनेश्वरना 'प्रमालक्ष्म' अने शान्त्याचार्यना 'वार्तिक'मां थयो पण ते पर्याप्त हतो नहि. आथी समग्र भावे चर्चाने समेटी लेतो वादी देवसूरिनो 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' तेनी टीका 'स्याद्वादरत्नाकर' साथे गुजरातना दार्शनिक साहित्यमां अनोखुं स्थान धरावे छे.

वादि देवसूरि समक्ष आचार्य माणिक्यनंदिनुं 'परीक्षामुख' हतुं ज अने उपरांत दार्शनिक साहित्य तेमणे जे मळी शक्युं ते भेगुं कर्युं. अने एम कहेवुं जोईए के परीक्षामुखनुं ज नवुं संस्करण, तेमां

जे कांई खूटतुं हतुं ते उमेरीने, आलंकारिक भाषामां तैयार कर्युं अने 'सटीक प्रमाणनयतत्त्वालोक'ने एक आकर ग्रन्थनुं स्वरूप आपी दीधुं.

वादी देवसूरि अने तेमना ग्रन्थो विषे में 'रत्नाकरावतारिका'नी प्रस्तावनामां लख्युं छे[1] तेथी तेनी पुनरावृत्ति जरूरी नथी. एटलुं जाणवुं बस थशे के वादी देवसूरि ते काळना गुजरातमां एक समर्थ दार्शनिक हता; जेनो जोटो जडवो दुर्लभ छे.

जैन दर्शन विषे विचार करीए तो तेना आगमयुगमां (वि० पू० ५००–विक्रम ५००) तत्त्वनी विचारणा एटले तत्त्वोनी अने ज्ञानना प्रकारोनी गणतरी–विभागीकरण ए मुख्य हतुं. तत्त्वनुं स्वरूप केवुं होवुं जोईए ए विषे दार्शनिकोमां चालती चर्चाना अनुसंधानमां जैन दार्शनिकोए अनेकान्तवादनी स्थापना करी अने तेनुं समर्थन कर्युं ते जैन दर्शनचर्चानो बीजो युग छे (वि० ५००–८००). तेमां समन्तभद्र, अकलंक, हरिभद्र आदि अनेक आचार्योए अनेकांतवादनी स्थापना अने व्यवस्था माटे भगीरथ प्रयत्न कर्यो अने इतर दार्शनिकोमां जैन दर्शनने स्याद्वादी दर्शन के अनेकान्तवादी दर्शनरूपे प्रतिष्ठा अपावी. तत्त्वने पामवानो के तेना निरूपणनी एक नहि पण अनेक दृष्टि होई शके छे अने तेथी मात्र एक ज दृष्टिए करेल निरूपण अधूरुं अने ऐकान्तिक बनी जाय छे. ते विचारवानो प्रयत्न अनेकांतमां छे – आवी स्थापना अनेकांतवादनी छे.

---

१. आ ग्रन्थ, ला० द० भारतीय संस्कृति–विद्यामंदिर, अमदावाद तरफथी त्रण भागमां अनुवाद साथे प्रकाशित थयो छे.

बौद्धए ज्यारे प्रमाणचर्चा उपर भार आप्यो त्यारे भारतीय बधां दर्शनोए पोतपोतानी प्रमाणविद्यानुं पुनर्निरीक्षण अने पुनर्व्यवस्थापन कर्युं. आ बधुं चालतुं हतुं त्यारे जैन दार्शनिकोए पण आगमकाळथी चाली आवती ज्ञानचर्चाने प्रमाणचर्चामां परिवर्तित करी दीधी अने तेना परिपाकरूपे वि०नो आठमी शतीथी जैन प्रमाणविद्यानो युग शरू थाय छे. ते युगनी रचना 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' छे तेथी तेमां प्रमाणकेन्द्रित जैनदर्शननी चर्चा छे.

प्रमाणनयतत्त्वालोकनी स्याद्वादरत्नाकरटीका ए खरेखर दर्शनप्रमेयोनो रत्नाकर ज छे. पण ए एटली बधी विस्तृत छे के प्रारंभिक विद्यार्थीओ माटे ते उपयोगी थई शके तेवी नथी. तेनो संक्षेप 'रत्नाकरावतारिकावृत्ति'मां आचार्य रत्नप्रभे कर्यो छे पण ते पण भाषा अने विचार-चर्चानी क्लिष्टताने कारणे सुगम नथी. आथी अतिसंक्षिप्त टीकानो आवश्यकता हती ज, जेनी पूर्ति प्रस्तुत पुस्तकमां मुद्रित बालबोधिनी द्वारा करवामां आवी छे. आनुं पुनर्मुद्रण थाय छे ते ज तेनी उपयोगितानुं प्रमाण छे.

दलसुख मालवणिया

ला० द० भारतीय संस्कृति
विद्यामंदिर, नवरंगपुरा
अमदावाद. ९
ता. १.१.१९७०

प्रस्तावना

भोः ! भोः ! दर्शनविमर्शनदत्तचित्ताः ! चेतस्विनः ! दर्शनशास्त्रं नाम स्वर्गापवर्गमार्गदर्शनप्रदीपः, सर्वविद्यासु शेखरायमाणा विद्या, मानवजन्मवृक्षस्याक्षुण्णं फलं, ग्रीष्मेऽप्यतापकरः प्रकाशः, अकम्पकरं शैत्यं, अक्लेदकरं स्नानं, अनायासक्लेशकरं हास्यं, अनौषधमारोग्यमस्ति। तदेव विविधमततर्कमार्गाणां कुलपर्वत इव नदीवेगानां जनकमजनि।

भगवतस्तीर्थंकृतः श्रीऋषभदेवस्यानन्तरं जैनदर्शनमाविर्बभूव। ततश्च यथाप्रयोजनं यथापात्रं च [1]कपिलादिभ्यः सांख्यादीनि नैकानि मतान्युदभुवन्, तेषु कतमद्दर्शनं प्राचीनं कतमच्चार्वाचीनमिति निर्णेतुं नास्तीदानीमसर्वज्ञस्य कस्यचित् पार्श्वे [2]निर्बाधं साधनम्, अतो न वयं दर्शनानां प्राचीनार्वाचीनत्वसाधनेऽधिकृतचेष्टां कुर्महे।

जैनागमोत्पत्तिः

कालप्रवाहापेक्षया जैनदर्शनमनादिनिधनमपि वर्तमानावसर्पिणी-कालभवचतुर्विंशतितीर्थंकरापेक्षया [3]श्रीऋषभदेवाद् भगवत उदपद्यतातः सादिकमित्यपि वक्तुं शक्यते। पूर्वतीर्थंकरसिद्धान्ते विनष्टे सति सर्वत्र धर्मशैथिल्ये प्रविष्टेऽपरस्तीर्थंकरः समुत्पद्य स्वकालस्थलोकेभ्यस्त्कालक्षेत्र-

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रे, १ पर्वणि।

२. वैदिक-जैनादीनां मुख्यग्रन्थेषु परस्परदर्शनोल्लेखदर्शनात्, यथा—ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्याये, ऋग्-यजुर्वेदादिषु च जैनदर्शनोल्लेखो नैकशो दृश्यते। जैनग्रन्थेषु च साङ्ख्य-नैयायिक-चार्वाक-वेदान्तादिदर्शनोल्लेखो वरीवर्ति।

३. श्रीमद्भागवतेऽपि (५ स्कन्धे) ऋषभदेवस्य चरित्रं कीर्तितमस्ति।

स्वभावादिकमपेक्ष्य तदेव प्रमाण-प्रमेयादि निर्बाधं तत्त्वं तत्तत्काल-लोकानुकूल्या सरण्या परेभ्य उपदिशति, यत् पूर्वतीर्थंकरैरुपदिष्टमिति जैनप्रणाली।

एवं क्रमशस्त्रयोविंशतीर्थंकरश्रीपार्श्वनाथशासनस्य विच्छेदे सति वर्यज्ञानतपश्चर्यादिश्रिया वर्धमानः श्रीवर्धमानापरनामा महामनाश्चतुर्विंश-तीर्थंकरः श्रीमहावीरप्रभुः प्रभूय केवलाऽऽलोकेन यत् प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयादितत्त्वं प्रकटीचकार तदेव श्रीइन्द्रभूतिगौतमगणधरादिभिस्त-च्छिष्यैर्भूरिसूरिभिश्च सूत्रग्रन्थादिरूपेण संगृहीतं, तस्य संग्रहस्य जैनागम-श्रुतसूत्रसमयसिद्धान्तादीनि नामधेयानि सन्ति। स च संग्रहो मूल-भेदाद् द्वादशधा, मूलेतरभेदैश्चानेकधा वर्तते।

आगमसाहित्ये दर्शनशास्त्रम्

आगमसाहित्यस्य मुमुक्षुमोक्षप्रापकत्वात् प्राचीनत्वात् समग्रप्रति-बोधकत्वाच्च तत्र दर्शनशास्त्रस्यातिवसंक्षेपतया खण्डशश्च निर्देशः कृतः। तथापि सूत्रकृताङ्गसूत्रे समयाख्ये प्रथमाध्ययने बौद्ध-चार्वाक-सांख्य-अद्वैतवादि-नियतिवादि-क्रियाऽक्रियावादि-ज्ञानाऽज्ञानवादिप्रभृतीनां नैकानि दर्शनानि प्रमाणानि च निर्दिश्य निराकृतानि। दृष्टिवादाख्यं

---

४. सूत्रकृताङ्गद्वितीयेऽध्ययने।

५. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तेई॥ "विशेषावश्यकभाष्ये गाथा १११६"।

६. तत्त्वार्थभाष्ये, अ. १-२०।

द्वादशाङ्गसूत्रं तु गीर्वाणभाषायामनेकदर्शनसिद्धान्तानामतिविस्तृतितः प्रतिपादकमासीदिति नन्दिसूत्रादिभ्यो विज्ञायते, तत्र प्रमाण-नय-स्याद्वाद-सप्तभङ्गी-निक्षेपादीनां चारुरीत्या चर्चाऽऽसीत्, परन्त्वस्मद्-दुर्दैवोदयात् स दृष्टिवादो बहुकालतो विच्छिन्न इति श्रूयते। चतुर्दशसु पूर्वेषु मध्ये, उत्पादाऽस्तिनास्तिप्रवादादिषु बहुषु पूर्वेषु बहुविधदर्शन-प्रमाण-नयादीनामुल्लेखो वरीवर्ति स्म। एवमाचाराङ्ग-प्रज्ञापनादिसूत्रेष्वपि कुत्रचित् प्रमातृचर्चा, कुत्रचन नयचर्चा, क्वापि प्रमाणप्रतिपादनं, कुह-चित् प्रमेयप्ररूपणं सुधामधुरयाऽर्धमागधीगिरा चक्रराचक्रुस्तत्प्रणेतारः। भगवतीसूत्रे [७] राजप्रश्नकृते च सूत्रे प्रमाणज्ञानभेदचर्चा जीवचर्चा च प्रति-पादिता। स्थानाङ्गसूत्रे द्विविधं प्रमाणं प्ररूपितम्, नन्दीसूत्रे तु पञ्च-विधज्ञानविषयस्यैव मुख्यतया विस्तारान्निरूपणमस्ति। अनुयोगद्वार-सूत्रेऽपि प्रमाणादिचर्चा नातिविस्तरतो विलोक्यते। परं पूर्वोक्तेष्वागम-ग्रन्थेषु प्रमाणविषये आगमरीतिमनुसृत्य मुख्यतया [८]मत्यादिपञ्चविधस्य ज्ञानस्यैव प्ररूपणं दृश्यते।

---

७. मुख्यतया तु पञ्चविधं ज्ञानमेव प्रतिपादितं. तद्यथा—कतिविहे णं भंते! नाणे पन्नते? गोयमा! पञ्चविहे नाणे पन्नते; तं जहा—आभि-णिबोहियनाणे सुयनाणे, ओहिनाणे, मणपज्जवनाणे, केवलनाणे...।" भगवतीसूत्रे ८ शतके, २ उद्देशे, ३१८ सूत्रम्। (कतिविधं णं भदन्त! ज्ञानं प्रज्ञप्तम्? गौतम! पञ्चविधं ज्ञानं प्रज्ञप्तं, तद् यथा—आभिनिबोधि-कज्ञानं (मतिज्ञानं), श्रुतज्ञानं, अवधिज्ञानं, मनःपर्यवज्ञानं, केवलज्ञानम्। इति छाया) एवं राजप्रश्नकृतेऽपि ज्ञानभेदाः सन्ति, तद् भगवतीसूत्रवचनादेव ज्ञायते यथा—"एवं जहा रायप्पसेणइए णाणाणं भेदो तहेव..." भ० श० ८-२ सू० ३१८।

८. आभिनिबोधिकज्ञानस्य मतिज्ञानमित्यपि नामधेयमस्ति।

यद्यपि [९]नन्दीसूत्रादिषु आगमतर्कपद्धत्यनुकूलः प्रमाणद्वयवादोऽपि विलोक्यते, नयवादानन्तरेण च सूत्रान्तरेषु कुत्रचित् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमाख्यं प्रमाणचतुष्टयमन्यश्च प्रकारो दृश्यते, परन्तु तेषु सूत्रेषु प्रमाणसङ्ख्याविषये समन्वयस्तु न समीक्ष्यते ।

आगमतर्कपद्धत्या प्रमाणविचारः

तर्कमार्गं मुख्यतयाऽनुसरद्भिर्जैनतार्किकैः प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणद्वयवादः स्थापितः[१०], स च विचार्यमाणायामागमपद्धत्यां न विरुद्ध आगमपद्धतित इति निश्चितं प्रतिभाति । अत[११] एवाऽऽगमेतरग्रन्थकारेषु प्रथमं श्रीउमास्वातिवाचकवर्यैः 'तत्त्वार्थाधिगमे सूत्रे' आगमरीत्या पञ्चविधं ज्ञानं प्रदर्श्य "आद्ये परोक्षम्" (तत्त्वार्थ० अ० १, सू० ११) "प्रत्यक्षमन्यत्" (त० १–१२) इति सूत्राभ्यां तत् प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणयोर्मध्येऽन्तर्भावितम् । "तत्प्रमाणे" (त० १–१०) इति सूत्रेण च प्रमाणस्य द्वैविध्यमेव स्थापितम् । "सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानीन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात् । किञ्चान्यत्, अप्रमाणान्येव वा । कुतः? मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद् विपरीतोपदेशाच्च" (तत्त्वार्थ० १–१२ भाष्यम्) इति स्वोपज्ञभाष्ये च प्रत्यक्षानुमानोपमानाऽऽगमाख्यः प्रमाणचतुष्टयवादोऽपि निरस्तः ।

---

९. नन्दीसूत्रं २, पृ० २२ ।

१०. श्रीसिद्धसेनदिवाकर-हरिभद्र-विद्यानन्द-माणिक्यनन्द्यादिभिः ।

११. आगमपद्धतिपक्षपातिभिः श्रीदेववाचक-जिनभद्रक्षमाश्रमणादिभिरपि प्रमाणद्वयं स्वीकृतम् ।

१२. तत्त्वार्थ० १–६ ।

यस्तु आगमेऽनन्तरोक्तप्रमाणचतुष्टयवादोऽपि दृश्यते; स नैयायिकादिसिद्धान्तापेक्षया वर्तते, नयवादान्तरेण च तत्र प्रतिपादितो भवेदिति समाहितं तैः ।

परनिमित्तेन्द्रियसन्निकर्षादिहेतुना जायमानानां लौकिकप्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणानां परोक्षप्रमाण एवान्तर्भावो भावनीयः । उपमानादीनां च पृथक्प्रमाणत्वाभावाद् मुख्यतया [13] सर्वप्रमाणसंग्राहिणी प्रत्यक्ष-परोक्षभणितिरेव घटाकोटिमाटीकते इति निष्कर्षः ।

ततो जैनतर्कशास्त्रव्यवस्थापकैः श्रीविक्रमादित्यमण्डलीमण्डनैः श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादैर्न्यायावताराख्ये ग्रन्थे प्रमाणस्य प्रत्यक्ष-परोक्षलक्षणं [14] द्वैविध्यमङ्गीकृतम् । [15] जिनभद्रक्षमाश्रमण–[16] हरिभद्रसूरि–[17] विद्यानन्द-[18] माणिक्यनन्दि–[19] अकलङ्कभट्ट-जिनेश्वरसूरिप्रभृतिभिः सर्वैः श्वेताम्बर-दिगम्बरसूरिवर्यैरपि मुख्यतया प्रत्यक्ष-परोक्षाभिधं प्रमाणद्वयमेव स्वेषु स्वेषु ग्रन्थेषु प्रतिपादितम् ।

इन्द्रियमनोनिमित्तं मतिनामधेयं ज्ञानमस्ति; तद् आगमेषु तत्त्वार्थ-

---

१३. न्यायावतारप्रथमश्लोकटीका । प्रमाणपरीक्षा पृ० ६३–६७

१४. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात् ॥ —न्यायाव० १ ।

१५. विशेषावश्यकगाथा ८८ ।

१६. षड्दर्शनसमुच्चये श्लो० ५५ ।

१७. अष्टसहस्रीग्रन्थे ।

१८. परीक्षामुखे २ समुद्देशे सूत्रम् २ ।

१९. लघीयस्त्रये ।

सूत्रे च 'अक्षेभ्यः[20], परतो वर्तते' इति, परोक्षतयैव[21] प्रतिपन्नम् । नैया-यिक-बौद्धादीनां तर्कस्य विकसिते सति, इन्द्रियमनोनिमित्तं घट-पट-सुखादिज्ञानमपि 'प्रत्यक्षम्[22]' इतिकल्पना सर्वत्र प्रसृतवती; सा च स्थूलव्यवहारदृष्ट्या जैनानामपि नानुचितेति हेतोर्नन्दिसूत्रादिषु इन्द्रिय-व्यवधानात् तादृशं मतिज्ञानं परोक्षमपि लौकिकप्रत्यक्षतया समर्थितम् । विशेषावश्यकभाष्येऽपि " **इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं** " (गाथा ६५)–इति गाथया घटपटसुखादिज्ञानस्य व्यवहारेण प्रत्यक्षत्व-मङ्गीकृतम् । वस्तुतस्तु आत्मातिरिक्तद्वारा जायमानत्वात् तदप्रत्यक्ष-मेवास्तीति नन्द्यादिषु[23] समाहितम् ।

---

२०. "अश्नुते, अक्ष्णोति वा व्याप्नोति सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावान् इत्यक्षो जीवः । अश्नुते विषयमित्यक्षमिन्द्रियं च ॥" (१–१–१०) इति श्रीप्रमाणमीमांसावृत्तौ हेमचन्द्रप्रभुरक्षव्याख्यामाचख्यौ ।

२१. पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्याऽऽत्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षमित्याख्यायते त० सर्वार्थसिद्धिटीका । अ० १-११ ।

२२. "एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम् । तत्र लौकिकप्रत्यक्षे षोढा सन्निकर्षो वर्णितः, अलौकिकसन्निकर्षस्त्विदानीमुच्यते —

" अलौकिकव्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा" ॥ ६३ ॥

इति सिद्धान्तमुक्तावलीप्रत्यक्षखण्डे, पृ० ३३ । न्यायबिन्दुप्रथमपरि-च्छेदे । योगसूत्रवृत्तिसमाधिपादे । सांख्यकारिकागौडपादभाष्ये पृ० ४ । नन्दीसूत्रं ३, पृ० २३ । एवमाप्तपरीक्षा-प्रमेयकमलमार्तण्ड-प्रमाणलक्षणा-दिष्वपि च ऐन्द्रियकज्ञानं सांव्यवहारिकत्वेन प्रतिपादितम् ।

२३. नन्दिसूत्रं २४, पृ० ५१ । तत्त्वार्थसूत्र-न्यायावतारादिष्वप्य-प्रत्यक्षमेवोक्तम् ।

प्रमाणनयतत्त्वालोकाऽऽलोचना

प्रौढसैद्धान्तिक-तार्किक-वैयाकरण-कविचक्रवर्ति-नैकभाषाकोविदैः श्रीवादिदेवसूरिपादैरागम-[२४]सिद्धसेन-हरिभद्राचार्यादिग्रन्थानभ्यस्य, दुर्वादिवादांश्च निरस्य,तीर्थपतिमुपास्य **प्रमाणनयतत्त्वालोकाख्योऽयं** ग्रन्थो जग्रन्थे। अत्र ग्रन्थे पूर्वभूरिसूरिरीतिमनुसृत्य प्रत्यक्ष-परोक्षलक्षणं प्रमाणस्य द्वैविध्यं प्ररूपितम्। प्रत्यक्षस्य तावत् सांव्यवहारिक-पारमार्थिकौ भेदौ प्रदर्श्य सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्येन्द्रियानिन्द्रियनिबन्धनाद् द्वौ प्रकारौ प्रदर्शितौ। इन्द्रियानिन्द्रिययोश्चैकशोऽवग्रहादिभेदेन चतुःप्रकारत्वमुल्लिखितम्[२५]। पारमार्थिकप्रत्यक्षस्य चागमतर्कपद्धतिसंमताऽवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानभेदतः त्रैविध्यं समर्थितम्। परोक्षस्य स्मरण-प्रत्यभिज्ञान-तर्कानुमानागमभेदैः पञ्चविधत्वमुक्तम्। प्रत्यक्षानुमानयोः स्वार्थ-परार्थता च सिद्धसेनदिवाकरादिवत् साधिता।

श्रीवादिदेवसूरिसमयपर्यन्तं प्रमाण-नयादिविषये दार्शनिको यावान् विकासोऽभवत् तावन्तं समस्तमत्र ग्रन्थे ते सूत्रितवन्तः। पक्ष-साध्य-दृष्टान्त-हेतूपलब्ध्यनुपलब्धि-सप्तभङ्गी-हेत्वाभास-नय-नयाभास-वाद-वादि-

---

२४. श्रीसिद्धसेन-हरिभद्रमुखाः प्रसिद्धास्ते सूरयो मयि भवन्तु कृत-प्रसादाः। येषां विमृश्य सततं विविधान् निबन्धान् शास्त्रं चिकीर्षति तनुप्रतिभोऽपि मादृक्॥ प० १. स्याद्वादरत्नाकरस्य प्रथमे भागे श्लो० ८।

२५. प्रमाणपरीक्षा-प्रमाणलक्षण-न्यायदीपिकादिदिगम्बरग्रन्थेष्वपि प्रत्यक्षस्यैते सर्वे प्रकारा दृश्यन्ते। अवग्रहादयोऽवध्यादयश्च भेदा आगमेष्वपि सन्ति। श्रीहेमचन्द्रसूरिभिस्तु विस्तरात् प्रमाणमीमांसायां प्रमाणभेदाश्चर्चिताः।

स्वरूपभेदादिकं सविस्तरमस्मिन् ग्रन्थेऽतीव स्पष्टतया प्रतिपादितम्, येनाल्पमतिरपि सम्यक्तया पठितुं प्रत्यलो भवेत् ।

परीक्षामुखेन सह तुलनाविचारः

अस्य प्रमाण-नयतत्त्वालोकस्य सरणिर्माणिक्यनन्दिविरचितपरीक्षा-मुखसदृशी प्रतिभासते । परन्तु यादृशं स्पष्टत्वं विशेषत्वं ललितपदो-पन्यासत्वं च प्रमाणनयतत्त्वालोके विलोक्यते; तादृक्षं परीक्षामुखग्रन्थे न प्रेक्ष्यते । तथाहि—सन्निकर्षादिखण्डन-विपर्ययादिलक्षणाऽवग्रहादिभेद[२६]-चतुष्टयावध्यादिविकलपारमार्थिकज्ञान - चतुर्विधाऽभाव-सप्तभङ्गी-सकला-देश-विकलादेश-नय-तदाभासभेदलक्षणोदाहरण-वाद[२७]-वादि-सभ्य-सभा-पतिस्वरूपादिकं परीक्षामुखग्रन्थे न ग्रथितम् । प्रमाणनयतत्त्वालोके त्वेतत् सकलं समस्ति ।

परीक्षामुखे षट्समुद्देशेषु २१२ सूत्राणि वर्तन्ते प्रमाणनयतत्त्वा-लोकेऽष्टपरिच्छेदेषु ३७८ सूत्राणि सूत्रितानि सन्ति । श्वेताम्बर-

---

२६. प्रमेयरत्नमालाख्यायां परीक्षामुखटीकायां तु प्रत्यक्षस्यावग्रहादयो विकलपारमार्थिकप्रत्यक्षभेदाश्च लिखिताः । प्रमेयकमलमार्तण्डेऽप्येते प्रति-पादिताः सन्ति ।

२७. "प्रमाणतदाभासौ......(परीक्षामुखं ६–७३)" इत्येकेन सूत्रेण वादिप्रतिवादिविषये सूचितम् । "सम्भवदन्यद्विचारणीयमिति" (परीक्षा ६–७४) इत्यन्तिमसूत्रेण च तत्रानुक्तनय-नयाभासादिविषयेऽन्यतो ज्ञेयमिति प्रेरितं परीक्षामुखकर्त्रा, परं न तत्र ग्रन्थे सूत्रितम् ।

दिगम्बराणां दर्शनविषये प्राय: समानसिद्धान्तत्वात्[28] प्रमाणस्य लक्षण-संख्या–विषय–फल–तदाभासादीनां सूत्रपद्धत्याश्च[29] साम्यं द्वयोरपि ग्रन्थयोर्मध्ये वरीवर्ति। एतत्साम्यं समीक्ष्य कोऽपि दुस्साहसाद् यद्येवं कथयेद् यत् 'वादिदेवसूरिणा परीक्षामुखात् सूत्राणि संगृहीतानि तद्रचना कौशलं वा तस्मादासादितमिति' तदा तस्य तद् दुःसाहस-प्रलपितत्वान्न कक्षीकरणार्हं प्रेक्षादक्षाणाम्। न हि किञ्चित्साधर्म्य-मात्रेणैतत्-संग्रहस्तदनुकरणता वा सिध्यति, अतिप्रसङ्गात्, अन्यथा जैनेन्द्रप्रक्रियादिव्याकरणग्रन्थेष्वपि पाणिन्यादिसूत्रसादृश्यदर्शनात् तत्रापि पाणिनीयव्याकरणादितः तत्-सूत्रसंग्रहानुकरणतापत्तिः कथं न स्यात्? तुल्ययोगक्षेमत्वात्। किञ्चानेकवादिजिष्णुर्धिषणानिराकृतधिषणश्चतुर-शीतिसहस्रश्लोकात्मकस्याद्वादरत्नाकरमहावादग्रन्थस्य रचयिता श्रीवादि-देवसूरिरपरस्य सूत्राणि तद्रचनाकौशलं वा गृह्णीयादिति कः खलु कोविदः श्रद्धीत?

अस्य ग्रन्थस्य नामधेयम्

श्रीवादिदेवसूरिणा सूत्ररूपो यो ग्रन्थो ग्रथितस्तस्य "प्रमाण-नयतत्त्वालोकालङ्कारः" इति नाम साम्प्रतं सर्वत्र प्रसिद्धमास्ते, परन्तु

---

२८. शेषं श्वेताम्बरस्तुल्यमाचारे दैवते गुरौ।
श्वेताम्बरप्रणीतानि तर्कशास्त्राणि मन्वते ॥ २७ ॥
स्याद्वादविद्याविद्योतात् प्रायः साधर्मिका अमी ॥ २८ ॥
—राजशेखरीयषड्दर्शनसमुच्चयः।

२९. संस्कृतभाषायां सर्वतः प्रथममुमास्वातिपादैः सूत्रनिर्माणपद्धतिरादृता।

तन्न युक्तम्, यतो ग्रन्थकर्त्रा त्वस्य '**प्रमाणनयतत्त्वालोकः**' इत्येव नामधेयं स्थापितमित्यस्यैव ग्रन्थस्य विस्तृतस्वोपज्ञटीकारूपस्याद्वाद-रत्नाकरग्रन्थान्तःपाठतः स्पष्टं प्रतिभासते । तथाहि – "**कथं पुनः प्रमाणनयतत्त्वालोकः शास्त्रम्? येन तदाऽऽरम्भे परम्परागुरु-प्रवाहः स्मर्यते, इति चेत्, उच्यते,........**" "**तच्चाष्टपरिच्छेदी-रूपस्य प्रमाणनयतत्त्वालोकस्यास्तीति सोऽपि शास्त्रम्**"–स्याद्वाद-रत्नाकरः १ परि०. १ भागः, पृ० ७ आर्हतमतप्रभाकरमुद्रितः । तथा–

"**इदं स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणान्तस्तत्त्वरूपतया प्रतिभासमानं प्रमाणनयस्तत्त्वालोकाख्यं शास्त्रम्**"—स्याद्वादरत्नाकरप्रथमभागः, पृष्ठम् ९ । श्रीवादिदेवसूरेः प्रियतमशिष्यश्रीरत्नप्रभसूरिः स्याद्वादरत्नाकर-साररूपां रत्नाकरावतारिकां टीकां रचयाञ्चक्रे, सोऽपि तस्यां प्रस्तुत-ग्रन्थस्य "**प्रमाणनयतत्त्वालोकः**" इत्येव नाम प्रकटीचकार, तथाहि–

"**सोऽपि समासतः सूत्राभिधेयावधारणं विना न; इति प्रमाणनयतत्त्वालोकाख्यतत्सूत्रार्थप्रकाशनपरा रत्नाकरावता-रिका नाम्नी लघीयसी टीका प्रकटीक्रियते ।**" रत्नाकरावतारिका यशोवि० ग्रन्थमालामुद्रिता पृ० २ * ।

शब्दार्थेऽपि विचार्यमाणे प्रमाण-नययोस्तत्त्वं, तस्यालोकः–प्रकाश इति '**प्रमाणनयतत्त्वालोकः**' इत्येवास्य पर्याप्तं युक्तं च नाम प्रति-भासते । 'आलोकस्यालङ्कारः' इति नाम तु निरर्थकमविशिष्टार्थं वा प्रतिभाति । यद्यपि मुद्रितस्याद्वादरत्नाकरस्य प्रत्येकपरिच्छेदान्ते[३०]

---

* अस्यापरं मुद्रणं गूर्जरभाषानुवादसहितमनेकपरिशिष्टादिभिरलंकृतं, अहम्मदाबादस्थला० द० भारतीयसंस्कृतिमन्दिरात् कृतमस्ति ।

३०. आर्हतमतप्रभाकरमुद्रितस्याद्वादरत्नाकरप्रथमभागे पृ० २५७ ।

"इति····श्रीदेवाचार्येण विरचिते स्याद्वादरत्नाकरे प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे प्रमाणस्वरूपनिर्णयो नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥" इति पाठो दृश्यते, परन्तु परिच्छेदान्त उपसंहारोल्लेखभेदस्तु लिपिकारविहितोऽपि भवेद्, इति संभावनायाः संभवात्, सन्दिग्धत्वं, तं संदेहं **'प्रमाणनयतत्त्वालोकः'** इतिरूपं ग्रन्थान्तर्निर्दिष्टं ग्रन्थकारपाठत्रयं निराकुर्वत् निश्चापयति यदस्य **प्रमाणनयतत्त्वालोक** इत्येव ग्रन्थकारसम्मतमभिधानमस्ति, नान्यदिति ।

आग्रानगरस्थश्रीविजयधर्मलक्ष्मीज्ञानमन्दिरस्य रत्नाकरावतारिकाहस्तलिखितपुस्तकद्वयस्य प्रथमपरिच्छेदान्ते, तथा प्रमाणनयतत्त्वालोकमूलग्रन्थस्य लिखितपुस्तकस्य प्रथमपरिच्छेदान्ते चोपसंहारपङ्क्तिषु **"श्रीप्रमाणनयतत्त्वालोके"** इत्येव पाठो विद्यतेऽतो मूलग्रन्थकारतच्छिष्यलिखितपाठचतुष्टयेन संवादभूतेन युक्त्या च निर्बाधमिदं सिध्यति यत् प्रस्तुतग्रन्थस्य **'श्रीप्रमाणनयतत्त्वालोकः'** इत्येव नामधेयं श्रीवादिदेवसूरिभिर्विहितम्, न **'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः'** इति। किञ्च विद्वद्ग्रन्थनामानि प्रायः संक्षिप्तानि भवन्ति ।

या च प्रसिद्धिरलङ्कारान्तस्य जाता; सास्य ग्रन्थस्य श्रेष्ठतमत्वात् **"अलङ्कारभूतोऽयं ग्रन्थो न्यायग्रन्थेषु"** इतिलोकप्रतीतिहेतोः, लिपिकारस्य वा भ्रान्त्या समजनीति संभाव्यते। यथा—दिगम्बराणां तत्त्वार्थाधिगमसूत्रविधातुः श्रीउमास्वातिपादस्य श्रीउमास्वामित्वेन प्रसिद्धिर्जाता; सा च बहुकालतो भ्रान्तिसंभवेति साधितं सप्रमाणं दिगम्बरपण्डितश्रीयुगलकिशोरादिमहाशयैः[1], तद्वदत्रापि वेदितव्यमिति मामकी मतिः ।

---

1. अनेकान्तपत्रे, १ वर्षस्य, ५ किरणे पृ० २६९ ।

अत एव मया अस्य ग्रन्थस्य सम्पादनावसरे 'श्रीप्रमाणनयतत्त्वालोकः' इत्येव नामधेयं मुद्रापितम् ।

प्रमाणनयतत्त्वालोकस्य प्रचारः

अस्य ग्रन्थस्य बाह्याभ्यन्तराऽऽकारेण सुन्दरत्वाद् जैनप्रमाणनयतत्त्वस्य सम्पूर्णतया प्रतिपादकत्वाद् विस्तृतपद्धतिकत्वेऽपि गम्भीरार्थत्वाच्च बहुभिर्विद्वद्भिरस्य ग्रन्थस्याध्ययनाध्यापनमनुकरणं चानेकशः कृतम् । [३२]स्याद्वादमञ्जरी–[३३]स्याद्वादभाषा – [३४]जैनतर्कभाषा

३२. २८ तमश्लोकटीकायां ।

३३. अत्र ग्रन्थे श्रीप्रमाणनयतत्त्वालोकस्य श्रीतत्त्वार्थसूत्रस्य च प्रमाणनयप्रमेयप्रतिपादकानि सूत्राणि संक्षेपाद् व्याख्यातानि गद्यगीर्वाणगिरा ।

३४. तर्कभाषानाम्ना द्वौ ग्रन्थौ वर्तेते जैनकृतौ । 'एकस्तावत् श्रीयशोविजयवाचकप्रणीतः, स च श्रीयशोविजयग्रन्थमालानाम्नि ग्रन्थे मुद्रितः पृ० ११४ तः पृ० १३१ पर्यन्तं, जैनधर्मप्रसारकसभया च प्रकाशितः । लघुरपि सुन्दरोऽयं ग्रन्थः । अत्र ग्रन्थे प्रमाणनयतत्त्वालोकस्य नैकानि सूत्राणि संगृह्य विवृतानि, षष्ठ-सप्तमपरिच्छेदयोस्तु प्रायः समस्तानि सूत्राणि गृहीत्वा व्याख्यातानि । द्वितीयः श्रीजैनतर्कभाषाऽभिधो ग्रन्थो यशःसागरशिष्येण श्रीयशस्वत्सागरेण संदृब्धः, सोऽद्याप्यमुद्रित एवास्ति, सरलः सुन्दरश्चायं विद्यते । तस्मिन्नपि प्रमाणनयतत्त्वालोकस्य तृतीय-षष्ठ-सप्तमपरिच्छेदानामविकलानि सूत्राणि न्यस्तानि । तस्य हस्तलिखितपुस्तकत्रयं श्रीविजयधर्मलक्ष्मीज्ञानमन्दिरे वरीवर्ति । तस्याऽऽदिभागस्त्वेवमस्ति—

अर्हं बीजं भावतश्चाभिवाद्य सम्यग्विद्यासद्गुरुं मद्गुरुं च ।
श्रीमद्देवाचार्यवर्योक्तियुक्त्या स्याद्वादस्य प्रक्रियां वावदामि ॥ १ ॥
स्याद्वादरत्नाकरसूत्रशोधिकां प्रमाणशास्त्रावतरत्वबोधिकाम् ।
तत्तर्कभाषां स्व-परप्रबोधिकां तमस्तमौघप्रसरावरोधिकाम् ॥

अनेन ज्ञायते यदयं ग्रन्थः प्रमाणनयतत्त्वालोकसूत्राण्यवलम्ब्यैव विरचित इति ।

[35]जैनसप्तपदार्थी - स्याद्वादमुक्तावलि - षट्दर्शनसमुच्चयटीकाप्रभृतिग्रन्थेषु श्रीमल्लिषेण-शुभविजयगणि-यशोविजयोपाध्याय - यशस्वत्सागरगणिप्रभृतिभिरस्य बहूनि सूत्राणि संगृह्य गद्येन पद्येन वा व्याख्यातानि; प्रमाणत्वेन चोल्लिखितानि। स्वयं वादिदेवसूरिभिरप्यस्योपरि चतुरशीतिसहस्रश्लोकात्मकः स्वोपज्ञस्याद्वादरत्नाकराख्य आकरग्रन्थो प्रथितः, तच्छिष्येण च रत्नाकरावतारिका नाम्नी टीका रचयाञ्चक्रे । चतुर्विंशतिप्रबन्धकारैः श्रीराजशेखरसूरिभी [37]रत्नाकरावतारिकोपरि पञ्जिका, ज्ञानसुन्दरेण च टिप्पणं व्यधायि । शास्त्रविशारदश्रीविजयधर्मसूरिमिश्रैः प्रमाणपरिभाषायां प्रस्तुतग्रन्थानुकृतिरपि कृता ।

ग्रन्थकारवादिदेवसूरिपरिचयः

अस्य श्रीप्रमाणनयतत्त्वालोकस्य कर्तुर्विषये सत्यपि मत्पार्श्वे साधनप्राचुर्ये प्रस्तावनागौरवभयादेवातीव संक्षेपादत्र किञ्चिल्लिख्यते—

श्रीवादिदेवसूरेः 'वीरनाग' इति जनकः, 'जिनदेवी' इति जननी,

---

३५. जैनसप्तपदार्थीग्रन्थोऽपि श्रीयशस्वत्सागरेण निरमायि । प्रमाणप्रमेयप्रतिपादकोऽयं सुन्दरो ग्रन्थस्तर्कसंग्रहपद्धतिकोऽस्ति; स चेत् प्रकाशितो भवेत्तदा दर्शनशास्त्रप्रवेशोत्सुकच्छात्राणामतीवोपकारी स्यात्, अस्य प्रमाणप्ररूपणप्रसङ्गेऽपि कानिचित् प्रमाणनयतत्त्वालोके सूत्राणि दरीदृश्यन्ते ।

३६. अयं पञ्चभागैरपूर्णो ग्रन्थः श्रीआर्हतमतप्रभाकरकार्यालयेन पूनानागरात् प्रकाशितः ।

३७. रत्नाकरावतारिका संपूर्णा, परिच्छेदद्वयस्य पञ्जिका, टिप्पणं च श्रीयशोविजयग्रन्थमालया प्रकाशयाञ्चक्रिरे ।

'पूर्णचन्द्र' इति नामधेयम्, अष्टादशशतीदेशभूषणं 'मद्दाहृतम्' इति नगरम्, 'प्राग्वाट' (पोरवाल) इत्याख्यावैश्यजातिः, जन्म तो जैनधर्मश्चासीत्[३८]। बृहत्तपागच्छीययशोभद्र-नेमिचन्द्रपट्टालङ्कारश्रीमुनिचन्द्रसूरिपार्श्वे पूर्णचन्द्रेण ११५२ वैक्रमे वर्षे साधुदीक्षा जगृहे। स्तोकेन कालेन विविधाः शास्त्रकलाः कलयित्वा स काश्मीरसागर-गुणचन्द्रादीन् नैकान् तत्कालख्यातान् वादिनो वादेषु परास्तवान्। गुरुणा तद्वादशक्त्या संतुष्य विद्वत्संघसमक्षं ११७४ वैक्रमे[३९] वर्षे 'देवसूरिः' इति नाम प्रस्थाप्य तस्मै आचार्यपदं प्रददे।

अथ गुरुनिर्वाणानन्तरं[४०] स देवसूरिरनेकान् भूपतीन् प्रतिबोध्याऽसंख्यान् संख्यावतोऽगण्यान् जनगणान् शुद्धोपदेशेनोपदिश्य गुर्जर-मरु-मेवाडादिदेशेषु निःस्पृहो विचचार।

वादशक्तिपरिचयः

देवसूरावपूर्वो वादशक्तेर्विकास आसीत्, येन बह्वीषु वादसभासु स विजयश्रियं ववार। तत्र प्रसङ्गद्वयं लिख्यते—

---

३८. प्रभावकचरित्रे देवसूरिप्रबन्धे।

३९. शिखि-वेद-शिवे (११४३) जन्म, दीक्षा युग्म-शरेश्वरे (११५२)।
वेदाश्व-शङ्करे (११७४) वर्षे सूरित्वमभवत् प्रभोः॥ श्लो० २८६।
—प्रभा० च० देवसूरिप्रबन्धः।

धर्मसागरोपाध्यायमतेन तु वि० सं० ११३४ वर्षे सूरेर्जन्माभवत्।

४०. श्रीमुनिचन्द्रसूरेर्वि० ११७८ कार्तिककृष्णपञ्चम्यां निर्वाणमभूदिति देवसूरिरचितगुरुविरहविलापस्य ३९, ४० श्लोकाभ्यां विज्ञायते।

एकदा किल देवबोधनामा सर्वत्र लब्धजयः कश्चिद् भागवतदर्शनी पण्डितः श्रीपत्तनगर(पाटण)मागत्य राजद्वारेऽवलम्बनपत्रे एकं दुरवबोधं श्लोकं लिलेख। तं श्लोकं दृष्ट्वा सर्वेऽपि राजपण्डिता विस्मयं जग्मुः। षण्मासान् यावद् व्याख्यातुं कृतेऽपि प्रयत्ने केनापि कोविदेन स श्लोकः न स्पष्टं व्याख्यात इति हेतोश्चेतसि खिन्नोऽतितरां सिद्धराजजयसिंहनामा गुर्जरसम्राट्, [४१]अम्बाप्रसादाख्येन सचिवेन च विज्ञप्तो यद् देवसूरिरस्यार्थं स्पष्टयिष्यतीति। तदनन्तरं राज्ञा प्रार्थितो देवसूरिस्तस्य श्लोकस्य लीलयैव स्पष्टव्याख्यां चकृवान्। स चायं श्लोकः—

[४२]एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षण्मेनकमनेनकाः।
देवबोधे मयि क्रुद्धे षण्मेनकमनेनकाः॥

अस्य श्लोकस्य स्पष्टं व्याख्यातुः बृहस्पतेरिव देवसूरेः प्रतिभां प्रेक्ष्य राज्ञा सह सर्वेऽपि पण्डिताः प्रमोदमेदुराः संजज्ञिरे। देव-

---

४१. प्रभावकचरित्रम् ६५॥

४२. प्रभावकच० श्लो० ६३। अस्य श्लोकस्य संक्षिप्त तात्पर्यमत्र लिख्यते एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षट्प्रमाणोपदेशिभिर्वादमिच्छति मयि देव—बोधनाम्नि पण्डिते कुपिते सति ते एकादिप्रमाणवादिनश्चार्वाक-बौद्ध-साङ्ख्य-नैयायिक-प्रभाकर-मीमांसका न काः—न वादिनः, तुच्छा इत्यर्थः। तथा विष्णु-ब्रह्म-सूर्या अपि वादिनो मयि क्रुद्धे सति नकाः कुत्सिताः-तेऽपि मामग्रे निरुत्तरीभवन्तीति भावः, यतो देवान् बोधयतीति व्युत्पत्त्याऽहं तेषामपि बोधकोऽस्मीति।

बोधोऽपि प्रीतः । यदा देवसूरिर्मरुदेशस्थनागपुरं पुरं जगाम तदा आह्लादनाह्वयेन भूपेन सहाभिमुखमागत्य देवबोधो देवसूरिमेवं स्तुतवान्—

यो वादिनो [४३]द्विजिह्वान् साटोपं विषयमानमुद्गिरतः ।
शमयति स देवसूरिर्नरेन्द्रवन्द्यः कथं न स्यात् ॥

—प्रभावकच० दे०प्र० ७६ ॥

वादिकुमुदचन्द्रेण सह वादः

श्रीदेवसूरिर्यदा कर्णावतीं गत्वा वर्षाचतुर्मासीं तस्थौ तदा जयकेशिदेवाह्वयस्य कर्णाटनृपतेर्गुरुर्जितानेकसभो मदोद्धुरः कुमुदचन्द्रनामा दिगम्बरवादी अपि तत्र तस्थिवान् । विविधैरुपायैः कुमुदचन्द्रो देवसूरिं वादाय उत्तेजितवान् । शान्ताऽऽत्मापि देवसूरिस्तन्मदविनाशाय श्रीपत्तने गुर्जरराजसभायां वादं विधातुं प्रतिज्ञाय कुमुदचन्द्रं च प्रेर्य शुभे शकुनजाते मुहूर्ते पद्भ्यां प्रयात्य पत्तनमाजगाम ।

---

४३. सर्पाणां राज्ञां च शमने समानधर्मत्वं, मुद्राराक्षसे विशाखादत्तेन द्वितीयाङ्के प्रोक्तं तद् यथा—

जाणंति तन्तजुत्तिं जहट्ठिअं मंडलं अहिलिहन्ति ।
जे मन्तरक्खणपरा ते सप्पणराहिवं उवअरन्ति ॥

देवसूरिप्रयाणकुण्डली

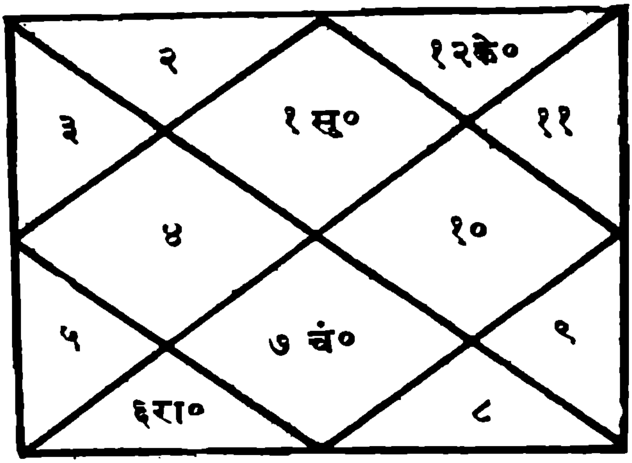

कुमुदचन्द्रोऽपि पत्तनमाजिगमवान् । तत्र श्रीसिद्धराजे सभापतौ सति, ११८१ वैक्रमे वर्षे वैशाखपूर्णिमादिने तयोर्वादारम्भः संबभूव । पणबन्धश्चायमजनि—

पणबन्धः

१—वादे यदि कुमुदचन्द्रः पराभूयेत तदा तेन गुर्जरदेशत्यागो विधेयः ।

२—देवसूरिश्चेत् पराभूयेत तदा स गुर्जरदेशीयश्वेताम्बरैः सह दिगम्बरमतमङ्गीकुर्यादिति ।

---

४४. प्रयाणग्रहप्रतिपादकश्लोकस्त्वयं प्रभावकचरित्रे—

ततः सूरिर्दिने शुद्धे मेषलग्ने रवौ स्थिते ।
सप्तमस्थे शशाङ्के च षष्ठे राहौ रिपुद्रुहि ॥ १३६ ॥

अनेन श्लोकेन ज्ञायते यद्देवसूरिणा चैत्रशुक्लपूर्णिमायां तत्समीपवर्तिनि वा दिने प्रातः प्रयाणमकारीति ।

सभ्याः

१ – कुमुदचन्द्रपक्षीया केशवनामानस्त्रयः पण्डिताः सभ्याः आसन् ।

२ – सभापतिपक्षीयाः सागर–महर्षि–उत्साह इति नामानस्त्रयो विद्वांसः सभ्या बभूवुः ।

३ – देवसूरिपक्षीयौ कविचक्रवर्तिश्रीपालः, भानुश्चासीत् ।

वादि-प्रतिवादिसिद्धान्तः

पक्षः	वादिकुमुदचन्द्रस्य	देवसूरेः
स्त्रीमुक्तिः ।	न भवति ।	भवति ।
केवलिभुक्तिः ।	”	” ।
सवस्त्रस्य मुक्तिः ।	”	” ।

वादि-प्रतिवादि-सभ्य-सभापतिषु समस्तेषु वादाङ्गेषु सभामलंङ्कुर्वत्सु “भवान् तावत् स्वपक्षं कक्षीकरोतु” इति देवसूरावुक्ते सति दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्रो राज्ञे प्रथममाशिषं ददौ । तद्यथा—

“ खद्योतद्युतिमातनोति सविता जीर्णोर्णनाभालय-
 च्छायामाश्रयते शशी मशकतामायान्ति यत्राद्रयः ।
इत्थं वर्णयतो नभस्तव यशो जातं स्मृतेर्गोचरं
 तद् यस्मिन् भ्रमरायते नरपते ! वाचस्ततो मुद्रिताः ॥ ”

पश्चाद् देवसूरिरपि सुन्दरश्लिष्टार्थमाशिषं वितीर्णवान् । तद्यथा—

" नारीणां विदधाति निर्वृतिपदं श्वेताम्बरप्रोन्मिषत्-
कीर्तिस्फाति मनोहरं नयपथप्रस्तारभङ्गीगृहम् ।
यस्मिन् केवलिनो न निर्जितपरोत्सेकाः सदा दन्तिनो
राज्यं तज्जिनशासनं च भवतश्चौलुक्य ! जीयाच्चिरम् ॥ "

वादारम्भः

ततः पराभवशङ्कासङ्कुलितान्तःकरणः कुमुदचन्द्रः स्वपक्षस्थापनाय स्त्रीमुक्ति-केवलिभुक्ति-सवस्त्रमुक्तिप्रतिषेधकपक्षोपन्यासं कृतवान् । अथ तत्पक्षस्थापनानन्तरं सभापतिप्रार्थितः श्रीदेवसूरिः प्रतिवदितुमारेभे । प्रथमं तु देवसूरिणा कुमुदचन्द्रोपन्यस्तपक्षसाधनादीनि :पर्वतशिखराणीव महातार्किकशान्तिसूरिविरचितोत्तराध्ययनसूत्रवृत्तिमनुसृत्य सत्तर्ककर्कशैश्चतुरशीतिविकल्पयुक्तिजालवज्ररनेकधा खण्डितानि । अस्खलितं तं खण्डनप्रकारमवधारयितुमप्यक्षमः । संभ्रान्तचेताः कुमुदचन्द्रः "पुनरुच्यताम्" इति देवसूरिं प्रोक्तवान् । देवसूरिः सम्पूर्णमपि स्वोपन्यासं त्रिवारमावृत्तवान् । ततः उत्तरदानेऽनुत्पन्नप्रतिभः कुमुदचन्द्रो निस्तेजाः सन् मौनं बभारः । सभापतिना सभ्यैश्च " देवसूरिणा कुमुदचन्द्रो जितः " इत्यनेकवारं हरितालपूर्वकमुद्घोषितम् ! सर्वथा परास्तोऽपि दिगम्बराचार्यः कुमुदचन्द्रः स्वकीर्तिरक्षणाय " भवदुपन्यासे प्रोक्ताः कोटाकोटि, कोटिकोटि [४५] कोटीकोटि, इति शब्दाः अशुद्धाः अतः अपशब्दाख्यनिग्रहस्थानेन निगृहीतो भवान् इत्युवाच, तच्छ्रुत्वा महा-

४५. प्रभावकच० मतेन कोटिकोटीशब्दोऽयम् । उत्साहस्थाने काकलस्योल्लेखो प्रबन्धचिन्तामणौ वर्तते ।

वैयाकरणेन देवसूरिणा लक्षणसूत्रपुरस्सरमेते त्रयोऽपि शब्दाः संसाधिताः। उत्साहाख्येन विदुषा सभ्येनापि चैते शब्दाः पाणिनेः संमता इत्यनुमोदितम् । तेन स कुमुदचन्द्रः स्वयं निरनुयोग्यानुयोगाख्येन निग्रहस्थानेन निगृहीतः पराजयं प्राप्यातितरां ललज्जे ।

राजा सहर्षं धन्यवादप्रदानपूर्वकदेवसूरेर्विजयमसकृत् घोषयाञ्चकार । कुमुदचन्द्रस्य च देशत्यागमादिदेश । वादसमाप्त्यनन्तरं जयपत्रं (Testimony of victory) सम्यग् लेखयित्वा स्वहस्ताक्षरैरलङ्कृत्य बहुमानपूर्वकं श्रीदेवसूरये ददौ । पारितोषिकरूपेण प्रचुरं द्रव्यं छालाप्रभृतिग्रामद्वादशकं चादिदेश, निःस्पृहत्वात् तद् द्रव्यमनिच्छति सूरौ सर्वपरामर्शेन तद् धनं जैनमन्दिरनाभेयजिनमूर्त्तिनिर्माणप्रतिष्ठायां व्ययितवान् राजा ।

अयं वादः षोडशादिवसान्ते समाप्तिं प्राप्तः ।

ग्रन्थरचना

वादानन्तरं वादिदेवसूरित्वेन प्रसिद्धो देवसूरिरनुभूतं प्रचण्डतर्ककर्कशं सर्वं युक्तिजालं प्रमाणनयतत्त्वालोकस्य स्वोपज्ञव्याख्यारूपे चतुरशीतिसहस्रश्लोकात्मके आकरे स्याद्वादरत्नाकरे ग्रन्थे लोकोपकाराय मनोज्ञभाषया विस्तरतो निबद्धवान् । तत्कालीनैस्तत्पश्चाद्भाविभिश्च प्रौढैरपि तार्किकैरयं ग्रन्थः मुक्तकण्ठं प्रशंसितोऽभ्यस्तश्च सानन्दम्[४६] । तदतिरिक्ता अन्येऽपि संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशादिभाषासु देवसूरिणा बहवो

---

४६. प्रमेयरत्नकोटिभिः पूर्णो रत्नाकरो महान् ।

—रत्नप्रभसूरिः ।

" स्याद्वादरत्नाकर इत्यस्ति तर्को महत्तमः ।"

—राजशेखरसूरिः ।

" कान्ताननेकान्तमतावलम्बिनः स्याद्वादरत्नाकरवाङ्मयादिकान् ।"

—हेमविजयो गणिः ।

ग्रन्था प्रथिताः । निपुणान्वेषणानन्तरं निम्नोक्ता देवसूरेर्ग्रन्था अस्माभिर्दृष्टाः श्रुताश्च त इमे—

देवसूरिग्रन्थाः

* १ प्रभाते जीवानुशासनम् ।	† ७ कलिकुण्डपार्श्वजिनस्तवनम् ।
* २ मुनिचन्द्राचार्यस्तुतिः ।	८ यतिदिनचर्या (जैनग्रन्थावली)
* ३ गुरुविरहविलापः ।	९ जीवाभिगमलघुवृत्तिः(„)
* ४ द्वादशव्रतस्वरूपम् ।	×१० उपधानस्वरूपम् ।
† ५ कुरुकुल्लादेवीस्तवनम् ।	×११ प्रभातस्मरणस्तुतिः ।
† ६ श्रीपार्श्वधरणोरगेन्द्रस्तवनम् ।	+१२ उपदेशकुलकम् ।
	+१३ संसारोद्विग्नमनोरथकुलकम् ।

यन्निर्मिताने कयुक्तिव्यतिकराञ्चितोद्दण्डदण्डकस्कारवृत्तोत्कराप्रत्नरत्नरत्नाकरस्याद्वादरत्नाकरप्रमुखाऽनेकसत्तर्कग्रन्थावली कां कां न चमत्करीकरीति कोविदावलीम् .. । —मुनिसुन्दरसूरिः ।

स्याद्वादरत्नाकरनामधेयं ग्रन्थं महान्तं विबुधावधेयम् ।
कृत्वा यशोजातमवाप यत् तत् श्रीदेवसूरिर्नहि माति लोके ॥सं॰॥

सिद्धान्तं परवादिनां हि बहुशः संपोष्य तद्युक्तिभिः
पश्चाद्दोषगणैरतीतगणनैर्युक्त्याऽनवस्थादिभिः,
पङ्कं सूर्य इवाप्रमेयमहसा सञ्शोषयत्यादितो
देवाचार्यसुतो नवो विजयतां स्याद्वादरत्नाकरः ॥ -संशोधकः ॥

नव्यप्राचीनन्यायकोविदयशोविजया अपि सप्तभङ्गीन्यायालोके (पृ॰ १०) स्याद्वादरत्नाकरं निर्दिदिक्षुः ।

* इतिचिह्नाङ्किता ग्रन्थाः 'प्रकरणसमुच्चये' (ई॰ सं॰ १९२३) मुद्रिताः सन्ति ।

† इतिचिह्नाङ्किताः ग्रन्था मुनिश्रीचतुरविजयैः संपादिताः ।

× इतिचिह्नवन्तौ ग्रन्थौ बृहट्टिप्पण्यामुल्लिखितौ ।

+ इतिचिह्नितौ ग्रन्थौ लिम्बडीग्रामभाण्डागारे वर्तेते ।

वादिदेवसूरे राजप्रतिबोधकत्वम्

नागपुरीय-आह्लादननृपः, सिद्धराजजयसिंहभूपः, कुमारपाल-पृथ्वीपाल इत्यादयो नैके नृपतयः सूरिणा उपदिष्टा इति ज्ञायते।

वादिदेवसूरेः शिष्याः

तेषां बहवः शिष्याः संबभूवुः। तेषु ज्ञातनामानस्त्वेते—

१ [४७]भद्रेश्वरसूरिः। (पट्टधरः)	६ [४८]पूर्णदेवाचार्यः।
२ [४७]रत्नप्रभसूरिः।	७ [४९]जयप्रभः।
३ माणिक्यः। (मु० कुमुदचन्द्रे)	८ [५०]पद्मचन्द्रगणिः।
४ अशोकः। (,,)	९ [५१]पद्मप्रभसूरिः।
५ विजयसेनः। (,,)	१० [५२]महेश्वरः।

---

४७. एतौ द्वौ शिष्यौ वादिदेवसूरिणा स्याद्वादरत्नाकरे सहायकत्वेनोल्लिखितौ, स्याद्वादरत्नाकरस्य प्रथमपरिच्छेदान्ते (श्लो० २६४) तथाहि—'भद्रेश्वरः प्रवरयुक्तिसुधाप्रवाहो रत्नप्रभश्च भजते सहकारिभावम्॥'

४८. जालोरदुर्गस्थकाञ्चनगिरिशिलालेखः, सं० १२२१ वैक्रमीयः।

४९. प्रबुद्धरौहिणेयनाटके श्लो० ५।

५०. प्राचीनलेखसंग्रहः।

५१. चन्द्रकीर्त्तिकृतसारस्वतटीकाप्रशस्तिश्लो० ३, गच्छमतप्र० पृ० १७५।

५२. श्रीजिनविजयलिखिता कुमारपालप्रतिबोधप्रस्तावना पृ० ३, आवश्यकसप्ततिटीकाकारश्चायम्।

११ [५३]गुणचन्द्रः ।

१२ शालिभद्रः (गच्छमतप्र०)

१३ जयमंगलः । (वृत्तरत्नाकर-टीकायाम्

१४ [५४]रामचन्द्रः

देवसूरिसमकालीनविद्वांसः

१ हेमचन्द्रसूरिः ।

२ रामचन्द्रसूरिः (हेम० शिष्यः)

३ गुणचन्द्रसूरिः („)

४ उदयचन्द्रः („)

५ जिनचन्द्रसूरिः (खरतर ग०)

६ जिनदत्तसूरिः („)

७ जिनपतिसूरिः („)

८ जिनवल्लभसूरिः („)

९ जिनभद्रसूरिः ।

१० चन्द्रप्रभसूरिः ।

११ हरिभद्रसूरिः (नेमिच० कर्ता)

१२ चन्द्राचार्यः ।

१३ आनन्दसूरिः ।

१४ अजितदेवसूरिः (गुरुभ्राता)

१५ विजयसिंहसूरिः ।

१६ धर्मघोषः ।

१७ कमलकीर्तिः ।

१८ श्रीपालः (श्रावकः)

१९ यशःपालः („)

१० वाग्भटः (मंत्री „)

२१ यशोवीरः(„ „)

२२ उदयनः („ „)

२३ कुमारपालो (भूपः)

२४ सिद्धराजजयसिंहो („)

वादिदेवसूरेर्मित्राणि

[५५]विमलचन्द्र–हरिचन्द्र–सोमचन्द्र–पार्श्वचन्द्र–कुलभूषण–शान्ति–अशोकचन्द्रादयो विपश्चितो देवसूरेर्मित्राणि बभूवुः ।

---

५३. हैमविभ्रमटीकाकारः, तत्-प्रशस्तिश्लो० १ ।

५४. Ipigraphia Indica vol. ix P. 79.

५५. प्रभाकच० दे० प्रबन्ध श्लो० ४४ ।

देवसूरेरन्यत् कार्यजातम्

१ धवलके उदयनकारितसीमंधरमूर्तिप्रतिष्ठा ।[५६]

२ पत्तने महाकविवाग्भटकारितमन्दिरे वीरजिनमूर्तिप्रतिष्ठा ।[५७]

३ पत्तने सिद्धराजभूपकारितमन्दिरे श्रीऋषभजिनप्रतिष्ठा ।[५८]

४ फलवर्द्धिग्रामे जिनचैत्य-बिम्बयोः प्रतिष्ठा कृता ।[५८]

५ आरासणे ग्रामे नेमिनाथजिनमूर्तिप्रतिष्ठा ।[५९]

६ पञ्चत्रिंशत्सहस्र(३५०००)अजैनलोकानां जैनीकरणम् ।[६०]

---

५६. प्रभावकच० दे० प्र० श्लो० ५२ ।

५७. विक्रम सं० ११७६, प्रभावकच० दे० प्र० ७३, अनेन विपश्चिता मन्त्रिणा वाग्भटालङ्कारो रचितः योऽद्यावधि सर्वत्राप्यधीयते ।

५८ प्रभावकच० देवसूरिप्रबन्धश्लो० २७५ । इय प्रतिष्ठा वि० ११८३ वैशाखद्वादशीतिथौ चतुर्भिस्सूरिभिश्चक्रे वादजयतुष्टराजदत्तवित्तेन ।

५९. तपागच्छपट्टावल्यां श्रीधर्मसागरोपाध्यायाः प्रोचुः ।

यत्तु गच्छमतप्रबन्धकर्त्रा (पृ० १४३). फलवर्द्धि-आरासणजिन-बिम्बप्रतिष्ठाकर्तृत्वेन, स्याद्वादरत्नाकररचयितृत्वेन च श्रीअजितदेवसूरेर्नाम लिखितं तद्भ्रान्तमेवावसेयम्, प्रमाणेतिहासबाधितत्वात् ।

"Extracts from the Historical Records of the Jains by Johannes klatt, Ph. D. of Berlin published in the Indian Antiquary of Sept. 1882.

६०. गच्छमतप्रबन्धे पृ० १७४ ।

वादिदेवसूरिस्तुतिः

वन्नप्रतिष्ठाचार्याय नमः श्रीदेवसूरये ।
यत्प्रसादमिवाभाति सुस्वप्रश्नेषु दर्शनम् ॥ प्रद्युम्नसूरिः ।

वादविद्यावतोऽद्यापि लेखशालामनुज्झता ।
देवसूरिप्रभोः साम्यं कथं स्याद् देवसूरिणा ? ॥ मुनिदेवः ।

यदि नाम कुमुदचन्द्रं नाऽजेष्यद् देवसूरिरहिमरुचिः ।
कटिपरिधानमधास्यत् कतमः श्वेताम्बरो जगति ? ॥ हेमचन्द्रसूरिः ।

अस्तां सुधा किमधुना मधुना विधेयं
दूरे सुधानिधिरलं नवगोस्तनीभिः ।
श्रीदेवसूरिसुगुरोर्यदि सूक्तयस्ताः
पाकोत्तराः श्रवणयोरतिथीभवन्ति ॥ यशश्चन्द्रः ।

यैस्तु स्वप्रभया दिगम्बरस्यार्पिता पराभूतिः ।
प्रत्यक्षं विबुधानां जयन्तु ते देवसूरयो नव्याः ॥ रत्नप्रभसूरिः ।

श्रीमद्देवगुरौ सिंहासनस्थे सति भास्वति ।
प्रतिष्ठायां न लग्नानि वृत्तानि महतामपि ॥ प्रभाचन्द्रसूरिः ।

वादीन्द्रस्मयसञ्चयव्ययचणः श्रीदेवसूरिः प्रभुः....॥ रामभद्रमुनिः ।

कृत्वा ग्रन्थान् चारुतत्त्वार्थपूर्णान्
विद्वन्मान्यान् दुर्धियां भीतिहेतून् ।
लब्ध्वा मानं सर्वविद्वत्सभासु
ख्याताभिख्यो देवसूरिर्बभूव[61] ॥ संशोधकः ।

---

६१. अयं श्लोकः सुधारत्नभाण्डागारे कविप्रशंसायां मुद्रितः । पृ० २८५

वादिदेवसूरिनिर्वाणम्

एवं वादोपदेशशक्त्या चेतस्विचेतश्चमत्कारिग्रन्थरचनया गुणिगणगण्यगुणगणेन च प्राप्तपुण्ययशा देवसूरिर्भद्रेश्वरसूरये गच्छभारं समर्प्य ८३ वर्षमितमायुः संपाल्य समाधिपूर्वकं विक्रमीये १२२६ वर्षे श्रावणकृष्णसप्तम्यां तिथौ मर्त्यलोकं विहाय अमर्त्यलोकमलञ्चकरीति स्मेति **वादिदेवसूरिचरित्रसंक्षेपः ।**

टिप्पणीपरिचयः

राजकीयकलकत्ताऽऽदिमहाविद्यालयेषु (University) M. A· परीक्षायां, न्यायप्रथमादिपरीक्षासु, अन्यासु बह्वीषु पाठशालासु च पाठ्यग्रन्थत्वेनायं ग्रन्थो निर्धारितोऽस्ति, अतः श्रीयुतपं० हरिसत्यभट्टाचार्यप्रमुखैरस्य आङ्गल-गूर्जरादिभाषास्वनुवादोऽपि विहित इति श्रूयते ।

अयं मूलसूत्रबद्धो ग्रन्थस्तु पुरा नातिसंस्कृतोऽशुद्धश्च प्रकटीबभूव बहुकालतश्च तदनुपलब्धिर्जाताऽतः पिपठिषूणामप्राप्योऽजनि। तस्मादस्य ग्रन्थस्योपरि संस्कृतभाषायामपि न्याय-मीमांसाद्यनेकदर्शनव्याप्तमेधैः शुक्लोपाह्वश्रीमत्पण्डित**रामगोपालाचार्यैर्बालबोधिनी** नाम्नी छात्रोपयोगिनी नातिलघीयसी सरला टिप्पणी व्यरचि । अस्यां टिप्पण्यां श्रीरत्नाकरावतारिकादिग्रन्थानवलम्ब्य तैः शब्दार्थाभ्यां सूत्रार्थस्स्पष्टितः। परीक्षामुखे प्रमेयरत्नमालेव छात्रेभ्योऽवश्यमुपकरिष्यतीयमिति मे मतिः ।

---

६२. प्रभावकच० दे० प्र० श्लो० २८३, २८४, २८७ ।

सूत्रटिप्पणीसम्पादनम्

प्रस्तुतटिप्पणीयुक्तस्य प्रमाण-नयतत्त्वालोकस्य सम्पादने व्याख्यातृचूडामणिभिः सूरीश्वरसम्राट्प्रभृतिलेखकैः 'प्राचीनलेखसंग्रह-विजयधर्मसूरिस्मारकग्रन्थ' प्रभृतिग्रन्थसम्पादकैः पूज्यश्रीविद्याविजयपादैरहमादिष्टः । तेषामादेशमङ्गीकृत्य मयाऽस्याः बालबोधिन्याः टिप्पण्या मूलग्रन्थस्य च यथामति यथाशक्ति च संशोधनं सम्पादनं च कृतमस्ति, अतस्तेषामनुग्रहं मन्ये ।

अत्राऽऽवृत्तौ मूलसूत्राणि तु श्रीरत्नाकरावतारिकास्थमूलसूत्रपाठानुसारेण संगृह्य संपादितानि । पूर्वमुद्रितमूलसूत्रग्रन्थे स्याद्वादरत्नाकरान्तरमुद्रितसूत्रेषु च प्रायः प्रत्येकसूत्रप्रान्ते "इति" इति पदं मुद्रितं दृश्यते,[६३] परन्तु विचार्यमाणायां सूत्रपद्धत्यां मुद्रणपद्धत्यां च सर्वत्र "इति" इति पदं निरर्थकमसुन्दरं च प्रतिभाति । केषुचिद् मुद्रितपुस्तकेषु च सर्वत्र "इति" पदस्यानुपलब्धेरस्माभिर्नात्र तत् सम्पादितम् । यत्र तु रत्नाकरावतारिकायामावश्यकत्वाद् वर्तते तत्तु अस्मिन् संपादनेऽपि [६४]मुद्रितमेव यथास्थानम् । विपठिषूणां यथावश्यकं च तत्र तत्र स्थले पत्राधोभागेऽस्माभिः टिप्पणानि संदब्धानि । आग्रास्थश्रीविजयधर्मलक्ष्मीज्ञानमन्दिरस्य हस्तलिखितपुस्तकद्वयात् पाठान्तराणि, [६५]विषयानु-

---

६३. यथा—'प्रमाणनयतत्त्वव्यवस्थापनार्थमिदमुपक्रम्यते इति । ॥ १–१ ॥ स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणमिति ॥ २ ॥ इत्यादि ।

६४. यथा परि० ४-२१, प० ६-३६, परि० ७-१२.।

६५. अनुक्रमसंख्या (नं) २५०२, एकादशपृष्ठात्कं पुस्तकं क संज्ञकम् । अनुक्रमसंख्या (नं.) २०५०३ सप्तपृष्ठात्मकं पुस्तकं ख संज्ञकम् ।

क्रमश्च यद् यदावश्यकतया प्रतिभातं तत् तदत्र यथास्थानं नियोजितम् ।

अस्य ग्रन्थस्य सम्पादने प्रस्तावनादिलेखने वा मया ये ये ग्रन्था उपयुक्तास्तेषां ग्रन्थकारेभ्यः प्रकाशकेभ्यो हस्तपुस्तकदायकेभ्यश्च नैकशो धन्यवादान् वितरामि । सम्पूर्णेऽप्यत्र ग्रन्थे मम प्रमादाद्, मुद्रकाज्ञानदोषाद् वा यत् किञ्चित् स्खलनं दृश्येत तत् शुभवद्भिर्भवद्भिः संशोध्य क्षन्तव्योऽयं जनः, सूचयितव्यश्चेत्यभ्यर्थयते ।

ग्रन्थेऽत्र बुद्धिदोषाद् वा दृष्टिदोषात् त्वरात्वतः ।
स्खलितं दृश्यते यच्चेत् तच्छोध्यं धीधनैर्जनैः ॥ १ ॥

उज्जयिन्याम्, विदुषां वशंवदः
श्रावणशुक्ला ८, **मुनिहिमांशुविजयः**
धर्मसंवत् १० । (अनेकान्ती)

मूलग्रन्थस्य विषयानुक्रमः ।

श्रीदेवसूरिर्निजबुद्धिशक्त्या जिष्णुर्गुणित्वेन च देवसूरिम् ।
देवाधिदेवं स्मृतिवर्त्म तावन्नयं नयी ग्रन्थमुपक्रमेत ॥ १ ॥

प्रथमे परिच्छेदे ।

प्रमाणलक्षणं सम्यक् परीक्ष्यार्थस्वरूपणम् ।
प्रामाण्यमादिमे चोक्तं परिच्छेदे सुयुक्तितः ॥ २ ॥

द्वितीये परिच्छेदे ।

भित्त्वाऽऽद्यौ प्रमितिं द्वेधा प्रत्यक्षं च सलक्षणम् ।
तद्भेदान् प्रोच्य लौकिकाऽलौकिकांश्चालिखत् ततः ॥ ३ ॥

तृतीये परिच्छेदे ।

सस्वरूपाः परोक्षस्य पक्षोपलब्धिलक्षिताः ।
सानुपलब्ध्युदाहारास्तृतीयेऽकथयद् भिदाः ॥ ४ ॥

चतुर्थे परिच्छेदे ।

मुख्यत्वात् तु श्रुताऽऽख्यस्याग्रथ्नात् तुर्ये पृथक् श्रुतम् ।
आप्त-वर्णपदादींश्च सप्तभङ्गीमवर्णयत् ॥ ५ ॥

पञ्चमे परिच्छेदे ।

प्रमाणगोचरं भावं सामान्यादियुतं गुणम् ।
पञ्चमे च परिच्छेदे न्यबध्नाद् बन्धधीरधीः ॥ ६ ॥

षष्ठे परिच्छेदे ।

षष्ठे फलं प्रमाणस्य द्विविधं च कथञ्चन ।
भिन्नाभिन्नं भणित्वा च प्रमाणस्य ततः परम् ॥ ७ ॥
स्वरूपभेदमुख्यानां सोदाहृतीन् सलक्षणान् ।
हेतु-दृष्टान्तसाध्यनामाभासान् भाषते स्म च ॥ ८ ॥
—युग्मम् ।

सप्तमे परिच्छेदे ।

सप्तमे नयमाभज्य सप्तधा लक्षणैर्युतम् ।
साऽऽभासं तत्फलं कर्तुः स्वरूपं निर्वृतिं स्त्रियाः ॥ ९ ॥

अष्टमे परिच्छेदे ।

अष्टमे तु परिच्छेदे वाद-वादि-सभापतीन् ।
वादीन्द्रो लक्षयाञ्चक्रे वादिकुम्भिभिदाहरिः ॥ १० ॥

* प्रमाणनीत्यादिकतत्त्वलोके श्रीदेवसूरेः महतात्मशोके ।
ग्रन्थे समासाद् विषयक्रमोऽयं दृब्धोऽणुना भिक्षुहिमांशुनाम्ना ॥ ११ ॥

---

* प्रमाणनयतत्त्वालोके ।

श्रीप्रमाणनयतत्त्वालोके विस्तृतो विषयानुक्रमः ।

विषयः ।	पृष्ठे ।
प्रकाशकीय	३
संपादकीय	४
उपोद्घात	८
प्रस्तावना	११
संक्षिप्तविषयानुक्रमः	३९
विस्तृतो विषयानुक्रमः	४१

प्रथमे परिच्छेदे

मङ्गलाचरणम्	१
आदिवाक्यम्	२
प्रमाणलक्षणम्	३
अव्याप्त्याद्यादिलक्षणदोषाः	३
द्वितीयसूत्रस्य पदकृत्यम्	४
ज्ञानमेव प्रमाणमिति समर्थनम्	४
सन्निकर्षादिखण्डनम्	५
सन्निकर्षादिस्वरूपभेदाः	६
प्रमाणस्य व्यवसायत्वसाधनम्	७
समारोपभेदाः	८
विपर्ययलक्षणं ख्यातिप्रकाराश्च	८
संशयानध्यवसायलक्षणोदाहरणानि	१०
पर-अर्थस्य लक्षणम्	११
स्वव्यवसायत्वसाधनम्	१३
प्रामाण्यलक्षणम्	१३
अप्रामाण्यलक्षणम्	१४
प्रामाण्योत्पत्तिज्ञप्तिविचारः	१४

द्वितीये परिच्छेदे

प्रमाणस्य मुख्यौ भेदौ	१६
प्रत्यक्षलक्षणम्	१६
इन्द्रियानिन्द्रियानिबन्धनभेदस्वरूपाः	१६
अवग्रहादिभेदलक्षणानि	१७–१८
ईहायाः संशयाद् भेदकथनम्	१९
अवग्रहादीनां कथञ्चिद्भेदसिद्धिः	१९
अवग्रहादीनामुक्तक्रमसाधनम्	२०
पारमार्थिकलक्षणभेदाः	२१
अवधि–मनःपर्यायलक्षणादि ...	२२
सकल-केवलज्ञानस्वरूपादि	२३
सर्वज्ञसाधनहेतवः	२३–२४
सर्वज्ञत्वेन कवलाहारस्याविरोधः	२४

तृतीये परिच्छेदे

परोक्षलक्षण-भेदाः	२५
स्मरणलक्षणम्	२५

विषयः ।	पृष्ठे ।
प्रत्यभिज्ञानलक्षणम्	२६
उपमानप्रमाणखण्डनम्	२६
तर्कस्य स्वरूपविषयादि	२७
स्वार्थ–परार्थाभ्यामनुमानद्वैविध्यम्	२८
स्वार्थानुमानलक्षणम्	२८
हेतोः सल्लक्षणं, असल्लक्षणदोषश्च	२८
साध्यस्वरूपकथनम्	२९
व्याप्तिग्रहणकाले धर्मस्य साध्यत्वम्	३०
अनुमानकाले तु पक्षस्य साध्यत्वम्	३१
पक्षस्य त्रैविध्यसाधनम्	३१
परार्थानुमानलक्षणम्	३१
पक्षप्रयोगस्याऽऽवश्यकत्वम् ...	३२
परार्थप्रत्यक्षलक्षणम्	३३
परार्थानुमानेऽवयवद्वयमेव पर्याप्तम्	३३
हेतुप्रयोगस्य द्वैविध्यम्	३३
तथोपपत्त्यन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणम्	३४
परार्थानुमाने दृष्टान्तवचनखण्डनम् ...	३५
अन्तर्व्याप्तिबहिर्व्याप्तिलक्षणम्	३६
उपनय-निगमनयोरपि परबोधेऽसामर्थ्यम्	३७
मन्दमत्यर्थं पञ्चावयवप्रयोगाऽऽज्ञा	३७
दृष्टान्तलक्षणभेदप्रदर्शनम्	३८
साधर्म्य वैधर्म्यलक्षणनिर्देशः	३८
उपनयलक्षणोदाहरणनिर्देशः	३८-३९
निगमनलक्षणम्	३९
हेतोर्द्विप्रकारताकीर्तनम्	३९
उपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्विधिनिषेधसाधकत्वम्	३९
विधि-प्रतिषेधलक्षणम्	४०
प्रागभावलक्षणम्	४०
प्रध्वंसेतरेतराऽभावलक्षणम्	४१
अत्यन्ताऽभावलक्षणम्	४१
उपलब्धेर्द्विभेदत्वम्	४२
अविरुद्धोपलब्धेः षट्प्रकारत्वम्	४२
कारणहेतोः सिद्धिः	४३
पूर्वोत्तरचरयोः पृथक्त्वसिद्धिः	४४
कारणस्य निर्व्यापारत्वखण्डनम्	४५
सहचरहेतोः साधनम्	४५
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां व्याप्यहेतोः पञ्चाऽवयवप्रयोगः	४६
विरुद्धोपलब्धेः सप्त प्रकाराः	४८–५०
अनुपलब्धेर्द्वैविध्यम्	५०
अविरुद्धानुपलब्धेः सप्तभेदाः	५०-५२
पञ्चधा विरुद्धानुपलब्धिः	५२–५४

विषयः ।	पृष्ठे ।
चतुर्थे परिच्छेदे	
आगमलक्षणम्	५५
आप्तलक्षण-भेदकथनम्	५५-५६
वेदस्यापौरुषेयत्वखण्डनम्	५६
वचन-वर्णलक्षणवचनम्	५७
वर्णस्य पौद्गलिकत्वसाधनम्	५७
पदवाक्ययोर्लक्षणोल्लेखः	५८
शक्ति संकेताभ्यां शब्दस्यार्थ-बोधकारणत्वप्रकाशनम्	५८
ध्वनेः स्वार्थाभिधाने सप्त-भङ्गानुसरणम्	५९
सप्तभङ्गीलक्षणम्	५९-६४
सप्तभङ्गानां मुख्यगौणत्वे स्याद्वादः	६४-६८
वस्तुनः प्रतिपर्यायसप्तभङ्गसिद्धिः	६९
सप्तैवभङ्गा न न्यूनाधिका इति सिद्धिः	६९
सकलाऽऽदेशलक्षणम्	७०
कालाद्यष्टभेदाभेदवृत्तिप्रदर्शनम्	७०
विकलादेशलक्षणम्	७२
अर्थप्रकाशे तदुत्पत्तितदा-कारखण्डनम्	७२
पञ्चमे परिच्छेदे	
वस्तुलक्षणम्	७४
सामान्य-विशेषात्मकत्वसिद्धि	७५

विषयः ।	पृष्ठे ।
तिर्यक्सामान्यलक्षणम्	७५
ऊर्ध्वतासामान्यलक्षणम्	७६
गुणलक्षणम्	७६
पर्यायलक्षणम्	७७
षष्ठे परिच्छेदे	
प्रमाणफलस्य लक्षणम्	७८
आनन्तर्य-पारम्पर्यफलम्	७८
प्रमाणात् फलस्य भिन्नाऽभिन्नत्वम्	७९
प्रमातृप्रमाणयोरपि स्याद्भेदः	८२
संवृत्या प्रमाणफलमिति-मतखण्डनम्	८३
प्रमाणाऽऽभासाः	८४
सांव्यवहारिकापारमार्थिक-प्रत्यक्षाभासौ	८५
स्मरणाऽऽभासः	८६
प्रत्यभिज्ञा-तर्काभासौ	८६-८७
पक्षाभासाः	८७-९१
हेत्वाभासाः	९२
असिद्धलक्षणम्	९२
उभयान्तरासिद्धलक्षणम्	९२
वनस्पतौ जीवतत्वसिद्धिः	९३
विरुद्धहेत्वाभासलक्षणम	९३
अनैकान्तिकलक्षणम्	९४
नव साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः	९५
नवधा वैधर्म्यदृष्टान्ताभासाः	९९

विषयः ।	पृष्ठे ।
उपनयनिगमनाभासः	१०२
आगमाभासः	१०३
प्रमाणसंख्याभासः	१०४
प्रमाणविषयाभासः	१०४
प्रमाणफलाभासः	१०५
सप्तमे परिच्छेदे	
नय नयाऽऽभासलक्षणम्	१०६
नैगमलक्षणम्	१०७
संग्रहलक्षणभेदकथनम्	१०९
व्यवहारलक्षणादि	११२
ऋजुसूत्रलक्षणम्	११३
शब्दनयलक्षणम्	११४
समभिरूढनयलक्षणम्	११५
एवंभूतनयलक्षणादि	११६
नयविषये विशेषविचारः	११८
नयवाक्यस्याऽपि सप्तभङ्गाः	११९
नयफलप्रमातृलक्षणम्	१२०
मोक्षस्वरूपम्	१२२
अष्टमे परिच्छेदे	
वादलक्षणम्	१२३
जिगीषु-तत्त्वनिर्णिनीषु-वादिलक्षणम्	१२३
तत्त्वनिर्णिनीषुभेददर्शनं च	१२४
वादिप्रतिवादिसाधारणलक्षणम्	१२७
वादिप्रतिवादिनोः क्रम०	१२७
सभ्यलक्षणम्	१२८
सभ्यकर्माणि	१२९
सभापतिलक्षणम्	१२९
सभापतेः कर्तव्यम्	१३०
कियत्कक्षं वक्तव्यम्? तन्नियमः	१३०
समाप्तिवचन	१३१
शुद्धिपत्रकम्	१३२

जगत्पूज्यश्रीविजयधर्मसूरिभ्यो नमः ।

श्रीवादिदेवसूरिविरचितः

प्रमाणनयतत्त्वालोकः

प्रथमः परिच्छेदः ।

ग्रन्थकारस्य मङ्गलाचरणम्—

रागद्वेषविजेतारं ज्ञातारं विश्ववस्तुनः ।
शक्रपूज्यं गिरामीशं तीर्थेशं स्मृतिमानये ॥ १ ॥

टिप्पणीकारस्य मङ्गलाचरणम्—

नत्वा गुरुक्रमाम्भोजं स्मृत्वा सर्वेश्वरं विभुम् ।
टिप्पणी बालबोधाय लिख्यते बालभाषया ॥

अथ तत्रभवन्तः पूज्यपादाः सकलकवितार्किकचक्रचक्रवर्तित्वेन विश्रुताः **श्रीवादिदेवसूरयः** प्रारिप्सितग्रन्थनिर्विघ्नपरिसमाप्तये इष्टदेवतानमस्कारात्मकं कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै ग्रन्थादौ निबध्नन्ति राग-द्वेषेति—

अहं, तीर्थेशं—तीर्थः—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका इत्येवंरूपश्चतुर्विधश्रमणसंघस्तस्येशं—स्वामिनं, स्मृतिं स्मरणम्, आनये—प्रापयामि-स्मरामीत्यर्थः । कीदृशं तीर्थेशम्? रागद्वेषविजेतारं—रागद्वेषयोर्विशेषेण-अपुनर्जेयतारूपेण जेतारं—जयनशीलम्, "तृन्" इत्यनेन ताच्छीलिकस्तृन्,

तथा विश्ववस्तुनः—त्रिभुवनवर्त्तिसामान्यविशेषात्मकस्य पदार्थजातस्य ज्ञातारं—अवबोद्धारम्, शक्रपूज्यं—शक्राणां—इन्द्राणां पूज्यं—पूजनीयम्, गिरामीशं - गिरां—वाणीनामीशं—स्वामिनम्, यथावस्थितवस्तुविषयत्वेनैतासां प्रयोक्तृत्वात्। अनेन विशेषणचतुष्टयेन भगवतश्चत्वारो मूलातिशयाः प्रतिपादिताः। तथाहि—अपायापगमातिशयः, ज्ञानातिशयः, पूजातिशयः, वागतिशयश्चेति।

ननु निर्विघ्नग्रन्थसमाप्तिं प्रति मङ्गलस्य कथं कारणत्वम्? विनापि मङ्गलं **किरणावल्यादौ** ग्रन्थपरिसमाप्तिदर्शनाद् व्यतिरेकव्यभिचारस्य, **कादम्बर्यादौ** कृतेऽपि मङ्गले समाप्त्यभावादन्वयव्यभिचारस्य च विद्यमानत्वात्, तस्मादनारम्भणीयं मङ्गलमिति चेत्, न, **किरणावल्यादौ** ग्रन्थाद् बहिरेव मङ्गलस्य कृतत्वाद् विघ्नात्यन्ताभावाद् वा ग्रन्थसमाप्तिसम्भवात्, **कादम्बर्यादौ** तु कृतेऽपि मङ्गले विघ्नबाहुल्याद् विघ्नानुरूपस्य मङ्गलस्याभावाद् वा समाप्त्यभावान्नान्वयव्यतिरेकव्यभिचारः, तस्मान्मङ्गलनिर्विघ्नग्रन्थसमाप्त्योः कार्यकारणभावे न काऽपि क्षतिरिति दिक्।

[1]प्रमाणनयतत्त्वव्यवस्थापनार्थमिदमुपक्रम्यते ॥ १ ॥

प्रकर्षेण—संशयादिराहित्येन मीयते—ज्ञायते यत् तत् प्रमाणम्, नीयते—गम्यते श्रुतप्रमाणपरिच्छिन्नैकदेशोऽनेनेति नयः, प्रमाणं च नयश्चेति प्रमाणनयौ, प्रमाणपदस्य बह्वच्त्वेऽपि अभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः, प्रमाणनययोस्तत्त्वं—स्वरूपं प्रमाणनयतत्त्वम्, तस्य व्यवस्थापनं

१. अथ प्रमाण० क।

प्रमाणनयतत्त्वव्यवस्थापनम्, तदेव प्रयोजनं यत्र तत् प्रमाणनय-तत्त्वव्यवस्थापनार्थम्, क्रियाविशेषणमेतद्, न तु, इदंशब्दनिर्दिष्टस्य शास्त्रस्य, तस्य करणत्वेनैव तत्रोपयोगात्। इदं-बुद्धौ प्रतिभासमानं शास्त्रमुपक्रम्यते—बहिःशब्दरूपतया प्रारभ्यते। "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते" इति न्यायेन प्रयोजनमन्तरा प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपलम्भादिदमादिवाक्यं प्रयोजनं प्रतिपादयितुं शास्त्रादावुपन्यस्तम्। अत्र बौद्धाः वदन्ति-इदमादिवाक्यं प्रयोजनमभिधातुं नाऽलम्, प्रयोजन-गोचरसंशयोत्पादकत्वेनैव तस्य चरितार्थत्वादिति। तदसत्, आदिवाक्यं विनैव शास्त्रमात्रावलोकनेनापि इदं शास्त्रं सप्रयोजनमप्रयोजनं वा? इति प्रयोजनभावाभावपरः संशयः समाविर्भवति, तथा च न तदर्थमादिवाक्यमावश्यकम्, अपि तु प्रयोजनप्रतिपादकत्वेनैव सप्रयोजनमिति मन्तव्यम् ॥ १ ॥

स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ॥ २ ॥

स्वम्—ज्ञानस्वरूपम्, परः—ज्ञानाद् भिन्नोऽर्थः, स्वं च परश्चेति स्वपरौ, तौ विशेषेणावस्यति—निश्चिनोतीत्येवं शीलं यस्य तत् स्वपर-व्यवसायि। ज्ञायते प्राधान्येन विशेषो गृह्यतेऽनेनेति ज्ञानम्, (राद्धान्ते वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वाद् यदा ग्राहकं ज्ञानं विशेषांशं गौणीकृत्य सामान्यांशं प्राधान्येन गृह्णाति तदा तद् दर्शनपदेनाभिधीयते, यदा सामान्यांशं गौणीकृत्य विशेषांशं प्रधानरूपतया गृह्णाति तदा तद् ज्ञानशब्देनोच्यते) अत्र प्रमाणं लक्ष्यम्, स्वपरव्यवसायित्वे सति ज्ञानत्वं लक्षणम्, असाधारणधर्मो हि लक्षणम्, असाधारणत्वं च लक्ष्य-तावच्छेदकसमनियतत्वम्। लक्षणस्य त्रीणि दूषणानि सन्ति, अव्याप्त्य-

तिव्याप्त्यसंभवभेदात्, तत्र लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः, यथा—'गोः कपिलत्वं लक्षणम्' इत्युक्ते श्वेतगवादौ भवत्यव्याप्तिः, श्वेतगवि कपिलत्वस्याभावात् । लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः, यथा 'शृङ्गित्वं गोर्लक्षणम्' इत्युक्ते महिषादावतिव्याप्तिः, शृङ्गित्वरूपधर्मस्य तत्रापि विद्यमानत्वात् । लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः, यथा 'एकशफवत्त्वं गोर्लक्षणम्' इत्युक्ते गोमात्रस्यैकशफवत्त्वाभावादसम्भवः । सास्नादिमत्त्वं गोत्वमिति तु दूषणत्रयरहितं लक्षणम् ।

एवमिदमपि प्रमाणलक्षणं दूषणत्रयरहितत्वान्निरवद्यम्, तथाहि—प्रमाणमात्रे लक्षणस्य सत्त्वान्नाव्याप्तिः, अप्रमाणतो व्यावृत्तत्वान्नातिव्याप्तिः, लक्ष्यमात्रे लक्षणस्य विद्यमानत्वादेव नासम्भवः ।

ज्ञानं प्रमाणमित्युक्ते संशयादावतिव्याप्तिः स्याद् अतः स्वपरव्यवसायीति पदम्, नैयायिकाभिमतस्य जडस्वरूपस्य सन्निकर्षादेः, स्वसमयप्रसिद्धस्य सन्मात्रविषयस्य दर्शनस्य च प्रामाण्यनिराकरणार्थं ज्ञानमिति पदम्, बौद्धैः परिकल्पितस्य निर्विकल्पस्य प्रामाण्यव्यवच्छेदार्थं व्यवसायीति पदम्, ज्ञानाद्वैतवादिनां मतमत्यसितुं परेति, नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकानाम्, एकात्मसमवायिज्ञानान्तरप्रत्यक्षवादिनां नैयायिकानाम्, अचेतनज्ञानवादिनां सांख्यानां च मतं निराकर्तुं स्वेति । समग्रलक्षणं तु—"अर्थोपलब्धि[हेतुः] प्रमाणम्" इत्यादीनां परपरिकल्पितानां लक्षणानां व्यवच्छेदार्थमिति दिक् ॥ २ ॥

अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणमतो ज्ञानमेवेदम् ॥ ३ ॥

अभिमतमुपादेयं, अनभिमतं–हेयम् । प्रयोगश्च–प्रमाणं ज्ञानमेव अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमत्वात्, यन्न ज्ञानं तन्नाभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं, यथा स्तम्भादि, अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं च प्रमाणम्, अतो ज्ञानमेवेदम् ॥ ३ ॥

न वै सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमुपपन्नं तस्यार्थान्तरस्येव स्वार्थव्यवसितौ साधकतमत्वानुपपत्तेः ॥ ४ ॥

अज्ञानस्य–जडस्वरूपस्य सन्निकर्षादेः–इन्द्रियार्थसम्बन्धादेः प्रामाण्यं नोपपद्यते, तस्य–सन्निकर्षादेः, अर्थान्तरस्येव घटादेरिव, स्वार्थव्यवसितौ–स्वार्थनिश्चितौ, साधकतमत्वानुपपत्तेः–करणत्वानुपपत्तेः ।

अयमर्थः—यथा घटो जडत्वात् स्वनिश्चये अर्थनिश्चये च साधकतमो न भवति, तथैव इन्द्रियविषयसम्बन्धरूपः सन्निकर्षोऽपि स्वनिश्चये अर्थनिश्चये च करणं न भवितुमर्हति, जडत्वादेव ।

प्रयोगश्च–सन्निकर्षादिर्न प्रमाणं स्वार्थव्यवसितावसाधकतमत्वात्, यत् स्वार्थव्यवसितावसाधकतमं तन्न प्रमाणं, यथा घटः, स्वार्थव्यवसितावसाधकतमश्च सन्निकर्षादिस्तस्मान्न प्रमाणम् ।

नैयायिकाः प्रत्यक्षं प्रति सन्निकर्षस्य प्रामाण्यमङ्गीकुर्वन्ति, तथाहि–तेषां मते सन्निकर्षः षोढा–संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति ।

तत्र चक्षुषा घटग्रहणे संयोगः सन्निकर्षः । घटरूपग्रहणे संयुक्तसमवायः, चक्षुस्संयुक्तो घटः तत्र रूपस्य समवायात् । रूपत्वग्रहणे संयुक्तसमवेतसमवायः, चक्षुस्संयुक्तो घटः तत्र समवेतं रूपं तत्र

रूपत्वस्य समवायात्। श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दग्रहणे समवायस्सन्निकर्षः, श्रोत्रेन्द्रियस्य गगनरूपत्वात् "कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम्" इति-वचनात्, तत्र च शब्दस्य समवायात्। श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दत्वग्रहणे समवेतसमवायः सन्निकर्षः, श्रोत्रसमवेतः शब्दः तत्र शब्दत्वस्य समवायात्। घटाभाववद् भूतलमित्यत्र विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः, चक्षुरसंयुक्तं भूतलं तत्र घटाभावस्य विशेषणत्वात्।

किञ्च, आत्मादिचतुष्टयसन्निकर्षेण ज्ञानमुत्पद्यते, आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति। सुखादिप्रत्यक्षे तु त्रयाणामेव सन्निकर्षः, आत्मा मनसा युज्यते, मनः संयुक्तसमवायसम्बन्धेन सुखादिना, आत्मप्रत्यक्षे तु योगिनां द्वयोरात्ममनसोरेव संन्निकर्षः, अनुमानादिकं प्रति तु द्वयोरात्मनसोः सन्निकर्ष इति **नैयायिकमतम्** ॥ ४ ॥

क

न खल्वस्य स्वनिर्णीतौ करणत्वं स्तम्भादेरिवाचेतनत्वात् ॥ ५ ॥

नाप्यर्थनिश्चितौ स्वनिश्चितावकरणस्य कुम्भादेरिव तत्राप्यकरणत्वात् ॥ ६ ॥

प्रयोगौ तु सन्निकर्षादिः स्वनिश्चितौ करणं न भवति, अचेतनत्वात्। योऽचतेनः स स्वनिर्णीतौ करणं न भवति, यथा स्तम्भः, अचेतनश्च सन्निकर्षादिः, तस्मात् स्वनिश्चितौ करणं न भवति।

तथा सन्निकर्षादिरर्थनिश्चितौ करणं न भवति, स्वनिश्चितावकरणत्वात्, य एवं स एवं, यथा स्तम्भादिरिति ॥ ६ ॥

तद् व्यवसायस्वभावं समारोपपरिपन्थित्वात्
प्रमाणत्वाद् वा ॥ ७ ॥

तत् प्रमाणभूतं ज्ञानं व्यवसायस्वभावम्–निश्चयात्मकम्, समारोपपरिपन्थित्वात् संशयादिविरुद्धत्वात्, प्रमाणत्वाद् वा, प्रमाणभूतस्य ज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वसाधने प्रत्येकमेवामू हेतू, तथाहि–प्रमाणभूतं ज्ञानं व्यवसायस्वभावं समारोपपरिपन्थित्वात्, एवं प्रमाणभूतं ज्ञानं व्यवसायस्वभावं प्रमाणत्वात्, यन्न व्यवसायस्वभावं तन्न समारोपपरिपन्थि, प्रमाणं वा, यथा संशयादिर्घटादिश्च, समारोपपरिपन्थि प्रमाणं चेदं ज्ञानं, तस्माद् व्यवसायस्वभावमिति ।

इदमत्रावधेयं–सुगतमते हि सर्वं वस्तुजातं क्षणिकम्, क्षणिकस्य वस्तुनो यत् प्रथमाक्षसन्निपातानन्तरं ज्ञानमुत्पद्यते तन्नामजात्यादिकल्पनारहितत्वान्निर्विकल्पकमुच्यते, तदनन्तरं वासनाबलसमुज्जृम्भमाणविकल्पविज्ञानं संकेतकालदृष्टत्वेन वस्तु गृह्णाति, अत एव संकेतकालभाविनं शब्दं च तत्र संघटयति, तथा च तदेव शब्दसंपर्कयोग्यं यन्निर्विकल्पकपश्चाद्भाविवासनासमुद्भूतं विकल्पविज्ञानं, तद्विषयभूतस्संतानश्च। विकल्पविज्ञानं हि पूर्वदृष्टत्वेनैव सर्वं निश्चिनोति, बालोऽपि यावत्पूर्वदृष्टत्वेन स्तनं नावधारयति, न तावन्मुखमर्पयति स्तने, अत एव सर्वोऽपि लौकिकव्यवहारोऽनेनैव विज्ञानेन प्रचलति । निर्विकल्पं तु न निश्चायकं स्वलक्षणमात्रजन्यत्वात्, तस्य च प्रथमक्षणे एव विनष्टत्वान्न शब्दसम्बन्धयोग्यम्, अत एव न तद् व्यवहारपथमवतरति।

तदेतन्नावितथम्—निर्विकल्पकं यदि व्यवहारपथं नावतरति

कथं तर्हि तस्य प्रामाण्यम् ? उत्तरकालभाविनो व्यवहारजननसामर्थ्याद् विकल्पात् तस्य प्रामाण्याभ्युपगमापेक्षया वरं विकल्पस्यैव प्रामाण्याभ्युपगमः। किञ्च, भवन्मते सविकल्पं विज्ञानं स्वयमप्रमाणभूतम्, तथा सति कथं तद् निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यव्यवस्थापकं भवेदिति यत् किञ्चिदेतत्। तस्मात् प्रमाणभूतं ज्ञानं व्यवसायस्वभावमेवाभ्युपगन्तव्यं, न निर्विकल्पकमिति भावः ॥ ७ ॥

अतस्मिंस्तदध्यवसायः समारोपः ॥ ८ ॥

तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं समारोपः, अयथार्थज्ञानमिति यावत् ॥ ८ ॥

स विपर्यय-संशयानध्यवसायभेदात् त्रेधा ॥ ९ ॥

विपरीतैककोटिनिष्टङ्कनं विपर्ययः ॥ १० ॥

येनाकारेण वस्तु स्थितं तद्विपरीतैकाकारेण तस्य निश्चयनं विपर्ययः ॥ १० ॥

यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ॥ ११ ॥

शुक्तिकायामरजताकारायां रजताकारेण यज्ज्ञानं स विपर्ययः—विपरीतख्यातिरित्यर्थः।

ख्यातयो बहुविधाः, यथा—आत्मख्यातिः, असत्ख्यातिः, अख्यातिः, अनिर्वचनख्यातिः, सत्ख्यातिः, अन्यथाख्यातिश्चेति। तत्र—आत्मख्यातिः—आत्मनः ज्ञानस्यैव ख्यातिः—विषयरूपतया भानम्, अयमर्थः—'शुक्ताविदं रजतम्' इत्यत्र ज्ञानस्यैव रजतरूपतया भानं भवति, न च तत्र कश्चिद् बाह्योऽर्थो विद्यते, 'अयं घटः' इत्यादिषु

सर्वत्र ज्ञानस्यैव विषयरूपतया प्रतिभासमानत्वात्, इति **योगाचारापरपर्यायविज्ञानवादिनो बौद्धाः** ।

असत्ख्यातिः—असतो रजतादेः ख्यातिः—प्रतीतिः तथाहि—'शुक्ताविदं रजतम्' इतिप्रतिभासमानं वस्तु न ज्ञानरूपं भवितुमर्हति 'अहं रजतम्' इति अन्तर्मुखाकारतयाऽप्रतिभासमानत्वात्, नाप्यर्थरूपम्, रजतसाध्याया अर्थक्रियाया अभावात्, तस्मादसदेव रजतं तत्र चकास्तीत्यसत्ख्यातिरिति **माध्यमिकापरपर्यायशून्यवादिनो बौद्धाः** ।

अख्यातिरप्रतीतिः—विवेकाख्यातिरित्यर्थः । शुक्ताविदं रजतमित्यत्र प्रत्यक्षस्मरणरूपं प्रत्ययद्वयमुत्पद्यते, तत्रेदमंशः प्रत्यक्षस्य विषयः, हट्टस्थादिरजतं तु स्मरणस्य विषयः, तयोः—प्रत्यक्षस्मरणयोः शुक्तिरजतयोश्चेन्द्रियदोषवशाद् भेदग्रहणं न भवतीति भेदा(ऽविवेका)ऽख्यातिरिति **मीमांसकाः** ।

अनिर्वचनीयख्यातिर्नाम सत्त्वेनासत्त्वेन चानिर्वचनीयस्य रजतादेः ख्यातिः—प्रतीतिः । तथाहि—'शुक्ताविदं रजतम्, इत्यत्र रजतं न सद्' बाध्यमानत्वात्, सतो न बाध्यमानत्वं यथा सत्यरजतम्, नाप्यसत् प्रतीयमानत्वात् असत् न प्रतीयते वन्ध्यास्तनन्धयवत्, तस्मादत्रानिर्वचनीयरजतोत्पत्तिरङ्गीकर्तव्या, इति **अद्वैतवेदान्तिनः** ।

सत्ख्यातिर्नाम सतो—विद्यमानविषयस्य ख्यातिः—प्रतीतिः, तथाहि—'शुक्ताविदं रजतम्' इत्यत्र शुक्तौ विद्यमानस्यैव रजतांशस्य प्रतीतिः "तदेव सदृशं तस्य यत् तद् द्रव्यैकदेशभाक्" इति नियमात् पञ्चीकरणप्रक्रियया च तत्र रजतांशानां विद्यमानत्वात् । अदृष्टवशात् तु

भूयसामपि शुक्त्यंशानां न प्रतीतिः, स्वल्पानामपि रजतांशानां प्रतीतिर्भवति, अतः 'शुक्तौ इदं रजतम्' इति ज्ञानं यथार्थमेव, तत्र ज्ञानविषयस्य विद्यमानत्वात्, विषयव्यवहारबाधात् तु भ्रमत्वेन व्यवहार इति **विशिष्टाद्वैतवेदान्तिनः** ।

अन्यथाख्यातिः—अन्यथा स्थितस्य वस्तुनोऽन्यरूपेण प्रतीतिः, तथाहि–अन्यथा स्थितस्य शुक्त्यादिरूपस्यार्थस्यान्यथा-रजतादिरूपेण प्रतिभासनमन्यथा-(विपरीत-)ख्यातिरिति **जैनाः नैयायिकाश्च** ।

एतासां खण्डनमण्डनप्रकारस्तु जिज्ञासुभिः **स्याद्वादरत्नाकराद्**वसेयः, ग्रन्थविस्तरभिया नात्र प्रपञ्च्यते ॥ ११ ॥

साधकबाधकप्रमाणाभावादनवस्थितानेककोटिसंस्पर्शि ज्ञानं संशयः ॥ १२ ॥

साधकप्रमाणाभावात् बाधकप्रमाणाभावाच्चानिश्चितानेकांशावगाहि ज्ञानं संशय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

यथाऽयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा ॥ १३ ॥

प्रत्यक्षविषये धर्मिणि दूरादूर्ध्वतादिसाधारणधर्मदर्शनेन वक्रकोटरादिकरचरणादिविशेषधर्मस्मरणे सति एकतरनिश्चायकसाधकबाधकप्रमाणाभावाद् दोलायमानं 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा ?' इत्याकारकं यज्ज्ञानं प्रादुर्भवति स संशयः, अयं प्रत्यक्षविषयः । अनुमानविषयस्तु कचिद् वनप्रदेशे शृङ्गमात्रावलोकनेन भवति संशयः, 'अयं गौर्वा स्याद् गवयो वा ?' इति ॥ १३ ॥

किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः ॥ १४ ॥

यत्र विशेषस्य स्पष्टतया भानं न भवति, अपि तु किमित्यालोचनात्मकं ज्ञानं भवति सोऽनध्यवसाय इत्युच्यते ॥ १४ ॥

यथा गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानम् ॥ १५ ॥

यथा गच्छतः पुरुषस्यान्यत्राऽऽसक्तचित्तस्य तृणस्पर्शे जाते एवं जातीयकं एवं नामकमित्यादि विशेषरूपेणावधारणं न भवति, अपि तु 'मया किमपि स्पृष्टम्' इत्याकारकमालोचनात्मकं यज्ज्ञानं भवति सोऽनध्यवसाय इत्युच्यते । प्रत्यक्षविषयश्चायमनध्यवसायः । परोक्षविषयस्तु कस्यचिदपरिज्ञातगोजातीयस्य पुंसः क्वचन वननिकुञ्जे सास्नामात्रावलोकनेन पिण्डमात्रमनुमाय 'को नु खल्वत्र प्राणी स्यात्?' इत्यादि ॥ १५ ॥

ज्ञानादन्योऽर्थः परः ॥ १६ ॥

ज्ञानाद् भिन्नः पदार्थः परः "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्" [१-२] इत्यत्र परशब्दवाच्य इत्यर्थः ।

अनेन 'ज्ञानमेव तत्त्वम्,' ज्ञानातिरिक्तत्वेन प्रतिभासमाना घटपटादयो बाह्यपदार्था ज्ञानस्यैवाकारविशेषा इति वदन्तो **योगाचारापरपर्यायज्ञानाद्वैतवादिनो बौद्धा** निरस्ताः । तथाहि-यदि बाह्यपदार्थो नाङ्गीक्रियते तर्हि अयं घटः, अयं पटः, इति घटपटाद्याकारविशिष्टं ज्ञानं किं निमित्तमुत्पद्येत ? अनादिवासनावैचित्र्यात् तादृशज्ञानमुत्पद्यते इति चेत्, ननु सा वासना ज्ञानादभिन्ना भिन्ना वाऽङ्गीक्रियते, यद्यभिन्ना तर्हि ज्ञानमेव तत्त्वं स्यात्, न तु वासना नाम किञ्चित्, तथा च कथं वासनावशाद् ज्ञाने घटाद्याकारसिद्धिः ? भिन्नत्वे तु ज्ञानाद्वैतहानिः स्यात्,

ज्ञानातिरिक्तत्वेन वासनाया अप्यर्थत्वात्, तस्मान्न बाह्यार्थमन्तरा घटाद्याकारविशिष्टं ज्ञानमुपपद्यते इति बाह्यार्थोऽङ्गीकर्तव्य एवेति संक्षेपः। एते च **बौद्धा वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिकभेदाच्चतुर्विधाः।**

तत्र **वैभाषिको** बाह्यं घटपटादि, आन्तरं ज्ञानादि च वस्तुतत्त्वं सत्यत्वेनाङ्गीकरोति। **सौत्रान्तिको** यद्यपि बाह्यमान्तरं चेति द्विविधमपि तत्त्वं स्वीकरोति, तथापि बाह्यपदार्थानां प्रत्यक्षं नैव मन्यते, घटपटादिनानाकारं ज्ञानं वर्तते, ततोऽनुमीयते बाह्यपदार्थाः सन्तीति अनुमानेन बाह्यपदार्थावगतिं ब्रूते। **योगाचारस्तु** बाह्यपदार्थानां सर्वथैवाऽपलापं करोति, केवलमान्तरमेव ज्ञानाख्यं तत्त्वं स्वीकरोति, ज्ञानमेव ग्राह्यग्राहकरूपेण प्रतिभासते, न वस्तुतो बाह्यपदार्थाः सन्तीति सिद्धान्तयति। **माध्यमिकस्तु** सर्वशून्यत्वमेव वदति, तथाहि—मानाधीना मेयसिद्धिरिति नियमेन पदार्थानां सिद्धिर्यदि प्रमाणाधीना, तर्हि प्रमाणस्य सिद्धिः केन? अन्येन प्रमाणेन चेत्, तस्यापि कथम्? अन्येन चेत्, तर्हि तस्याप्यन्येन, इत्यादिरूपेणानवस्था, यदि तेनैव प्रमाणेन तर्हि आत्माश्रयः, अतः प्रमाणं न सिध्यति, प्रमाणसिद्ध्यभावात् प्रमेयमपि न सिध्यतीति सिद्धा सर्वशून्यता।

तथा च संग्रहश्लोकः **श्रीहरिभद्रसूरीयषड्दर्शनसमुच्चयस्य श्रीगुणरत्नसूरिकृतायां टीकायाम्**—

"अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता **वैभाषिकेणो**च्यते
प्रत्यक्षो नहि बाह्यवस्तुविसरः **सौत्रान्तिकै**राश्रितः।
योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा
मन्यन्ते बत **मध्यमाः** कृतधियः स्वस्थां परां संविदम्॥"

एषां खण्डनप्रकारस्तु ग्रन्थान्तरादवसेयः ॥ १६ ॥

स्वस्य व्यवसायः स्वाभिमुख्येन प्रकाशनं, बाह्यस्येव तदाभिमुख्येन, करिकलभकमहमात्मना जानामि ॥१७॥

यथा ज्ञानस्य बाह्याभिमुख्येन—विषयानुभवनेन, प्रकाशनं बाह्यव्यवसायः, एवं स्वाभिमुख्येन प्रकाशनं—स्वव्यवसायः, तथाहि—यथा 'करिकलभकमहमात्मना जानामि' इत्यत्र 'अहम्' इत्यनेन प्रमाता, 'करिकलभकम्' इत्यनेन प्रमेयं, 'जानामि' इत्यनेन प्रमितिः प्रतीयते, तथैव 'आत्मना' इत्यनेन प्रमाणभूतं ज्ञानमपि प्रतीयत एव ॥ १७ ॥

कः खलु ज्ञानस्याऽऽलम्बनं बाह्यं प्रतिभातमभिमन्यमानः तदपि तत्प्रकारं नाभिमन्येत मिहिराऽऽलोकवत् ? ॥१८॥

अयमर्थः—यथा भास्करप्रभाभिर्घटपटादिकं वस्तुजातं पश्यन्तो जना भास्करप्रभामपि पश्यन्त्येव, तथैव ज्ञानविषयीभूतानां कुम्भादीनां प्रकाशमभिमन्यमानैर्ज्ञानस्यापि प्रकाशोऽङ्गीकर्त्तव्य एव । एतेन 'ज्ञानमतीन्द्रियं ज्ञानजन्यज्ञातृता प्रत्यक्षा तथा ज्ञानमनुमीयते' इति वदन्तो **मीमांसकैकदेशिनो भाट्टाः**, 'समुत्पन्नं हि ज्ञानं एकात्मसमवेतानन्तरसमयसमुत्पदिष्णुमानसप्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते, न तु स्वेन' इति जल्पन्तो **नैयायिकाश्च** निरस्ता वेदितव्याः ॥ १८ ॥

ज्ञानस्य प्रमेयाऽव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम् ॥१९॥

ज्ञानस्य यत् प्रमेयाऽव्यभिचारित्वं—प्रमेयाऽविनाभावित्वं तदेव तस्य प्रामाण्यम् ।

---

१. °महमिहात्मना क ।

अयं भावः—यादृशोऽर्थः प्रत्यक्षादिज्ञानेनाऽवगतः तादृश एव चेत् प्राप्यते तदा तज्ज्ञानं प्रमाणं, यथा सत्यरजतज्ञानम् ॥ १९ ॥

तदितरत् त्वप्रामाण्यम् ॥ २०॥

तस्मात्—प्रमेयाऽव्यभिचारित्वात्, इतरत्—प्रमेयव्यभिचारित्वम् अप्रामाण्यम् । यादृशोऽर्थो ज्ञानविषयतामागतस्तादृश एव चेन्न प्राप्यते तदा तज्ज्ञानमप्रमाणं, यथा—'शुक्तिकायामिदं रजतम्' इति ज्ञानम् ॥२०॥

तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्च ॥२१॥

ज्ञानगतप्रामाण्यविषये मिथो विवदन्ते दर्शनकाराः, तथाहि—उत्पत्तौ ज्ञप्तौ च ज्ञानानां प्रामाण्यं स्वतः, अप्रामाण्यं परत इति **मीमांसका वेदान्तिनश्च** । उभयत्रापि प्रामाण्याप्रामाण्यं परत इति **नैयायिकाः** । अप्रमाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति **सौगताः** । तत्त्वविदस्तु 'तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्च' इति वदन्ति ।

तदुभयम्—प्रामाण्यमप्रामाण्यं च उत्पत्तौ—स्वोत्पत्तौ परत एव—ज्ञानकारणगतगुणदोषाभ्यामेव उत्पद्यते इति शेषः, ज्ञप्तौ तु निश्चये तु स्वतः परतश्च, अभ्यासदशाऽऽपन्ने करतलादिज्ञाने स्वतः, अनभ्यासदशाऽऽपन्ने सर्पादिज्ञाने परतः, संवाद-बाधकाभ्यां निश्चीयते ।

अयं भावः—ज्ञानसाधनम्—इन्द्रियादि यदि नैर्मल्यादिगुणविशिष्टं तर्हि तत् प्रमाणभूतं ज्ञानं जनयति, यदि तदेव काचकामलादिदोषविशिष्टं तर्हि अप्रमाणभूतं ज्ञानमुत्पादयति, तत्र ज्ञानोत्पत्तिं प्रतीन्द्रियाणां कारणत्वं, ज्ञानगतप्रामाण्याप्रामाण्योत्पादकत्वे तु गुणदोषयोः कारणत्वमिति विवेकः, ज्ञानगतप्रामाण्यस्य निश्चयस्तु अभ्यासदशाऽऽपन्ने

करतलादिज्ञाने स्वत एव भवति, अनभ्यासदशाऽऽपन्ने–सत्यसर्पादिज्ञाने संवादकज्ञानाद् भवति ।

अप्रामाण्यस्य निश्चयस्तु अभ्यासदशाऽऽपन्ने मृगतृष्णिकादौ स्वत एव भवति, अनभ्यासदशापन्ने ‘शुक्ताविदं रजतम्’ इति ज्ञाने तु बाधकज्ञानाद् भवतीति ।

यादृशोऽर्थः पूर्वज्ञाने प्रथापथमवतीर्णः तादृश एव येन ज्ञानेन व्यवस्थाप्यते, तत् संवादकमित्युच्यते। मन्दसामग्रीजन्यं संवाद्यं, उदग्रसामग्रीसमुत्पाद्यं संवादकमिति ॥ २१ ॥

इति बालबोधिन्याख्यया टिप्पण्या विभूषिते
श्रीवादिदेवसूरिसंदृब्धे प्रमाणनयतत्त्वा-
लोके प्रमाणस्वरूपनिर्णायकः
प्रथमः परिच्छेदः ।

द्वितीयः परिच्छेदः ।

तद् द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च ॥१॥

तत्–प्रमाणं प्रत्यक्ष-परोक्षभेदेन द्विप्रकारमित्यर्थः ॥ १ ॥

स्पष्टं प्रत्यक्षम् ॥२॥

स्पष्टत्वं प्रत्यक्षस्य लक्षणमित्यर्थः । प्रबलतरज्ञानाऽऽवरणीय-वीर्यान्तराययोः कर्मणोः क्षयोपशमात्, क्षयाद् वा स्पष्टताविशिष्टं यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षं ज्ञातव्यम् ॥ २ ॥

अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम् ॥३॥

अनुमानादिप्रमाणैर्येषां नियतवर्णसंस्थानाद्याकाराणां प्रतिभासनं न भवति तेषामपि प्रतिभासनं प्रत्यक्षस्य स्पष्टत्वमिति ॥ ३ ॥

तद् द्विप्रकारम्–सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च ॥४॥

संव्यवहारः–बाधारहितप्रवृत्तिनिवृत्ती प्रयोजनमस्येति सांव्यवहारिकं, परमार्थे भवं पारमार्थिकम् ।

अयं भावः—बाह्येन्द्रियादिसाधनेभ्यो यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमुच्यते, इदम् अपारमार्थिकं, बाह्येन्द्रियादिसामग्रीसापेक्षत्वात् । अवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानरूपं तु पारमार्थिकं प्रत्यक्षम्, बाह्येन्द्रियादिसामग्रीनिरपेक्षत्वात्, तद्धि आत्मसन्निधिमात्रेणोत्पद्यते ॥४॥

तत्राऽऽद्यं द्विविधम्–इन्द्रियनिबन्धनमनिन्द्रियमनिबन्धनं च ॥५॥

तत्र—उभयोर्मध्ये, आद्यं—सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं, द्विविधं—द्विप्रकारं, इन्द्रियनिबन्धनं—चक्षुरादीन्द्रियहेतुकम्, अनिन्द्रियनिबन्धनं च मनोहेतुकं चेत्यर्थः। चक्षुरादीन्द्रियजन्यं मनोजन्यं च यज्ज्ञानं तत् सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमुच्यते इति समुदायार्थः।

इन्द्रियं द्विविधं, द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रियभेदात्, द्रव्येन्द्रियं द्विविधं, निर्वृत्तीन्द्रियोपकरणेन्द्रियभेदात्, निर्वृत्तीन्द्रियं द्विविधं, बाह्याभ्यन्तरभेदात्, तत्र बाह्यं—प्रत्यक्षेण परिदृश्यमानं कर्णशष्कुल्याद्यनेकप्रकारम्, आन्तरं—कदम्बपुष्पाद्याकारम्। उपकरणेन्द्रियं—आभ्यन्तरनिर्वृत्तीन्द्रियस्थितं स्वस्वविषयग्रहणशक्तिरूपं, यस्मिन् उपहते निर्वृत्तीन्द्रियसत्त्वेऽपि विषयग्रहणं न भवति तत्।

भावेन्द्रियमपि द्विविधम्, लब्ध्युपयोगभेदात्, तत्र लब्धीन्द्रियं—इन्द्रियावरणक्षयोपशमापरपर्यायार्थग्रहणशक्तिरूपम्। अर्थग्रहणव्यापाररूपमुपयोगेन्द्रियम्। चक्षुषोऽप्राप्यप्रकाशकारित्वम्, अन्येषामिन्द्रियाणां तु प्राप्यप्रकाशकारित्वमिति।

नैयायिकादयस्तु सर्वेषामिन्द्रियाणां प्राप्यप्रकाशकारित्वमेव वदन्ति। **बौद्धास्तु** चक्षुःश्रोत्रेन्द्रियवर्ज्यानीन्द्रियाणि प्राप्यप्रकाशकारिणीति मन्यन्ते।

मनोऽपि द्रव्य-भावभेदाद् द्विविधं प्राप्यप्रकाशकारि चास्तीति॥५॥

एतद् द्वितयमवग्रहेहावाय-धारणाभेदादेकशश्चतुर्विकल्पकम् ॥ ६ ॥

एतद् द्वितयम्—इन्द्रियनिबन्धनमनिन्द्रियनिबन्धनं च, एकशः—प्रत्येकम् अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणाभेदात् चतुर्विकल्पकम्—चतुर्भेदम् ॥ ६ ॥

विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः ॥ ७ ॥

विषयः— सामान्यविशेषात्मकोऽर्थः, विषयी—चक्षुरादीन्द्रियानिन्द्रियसमुदायः, तयोः सन्निपातः—योग्यदेशावस्थानम्, तदनन्तरमुत्पन्नं यत्सत्तामात्रविषयकं दर्शनम्—निराकारं ज्ञानम्, तस्मादनन्तरमुत्पन्नं यत् सत्त्वसामान्यादवान्तरमनुष्यत्वादिसामान्याऽऽकारविशिष्टवस्तुग्रहणम् अवग्रहः—अवग्रहशब्दवाच्य इत्यर्थः ॥ ७ ॥

अवगृहीतार्थविशेषाकाङ्क्षणमीहा ॥ ८ ॥

अवगृहीतार्थस्य—मनुष्यत्वादिसामान्यरूपेण गृहीतस्यार्थस्य विशेषाकाङ्क्षणम्—'अनेन कान्यकुब्जेन भवितव्यम्' इत्येवं—रूपमीहापदवाच्यम् ॥ ८ ॥

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥ ९ ॥

ईहितविशेषस्य—ईहाविषयीकृतस्य वस्तुनो निर्णयः 'अयं कान्यकुब्ज एव' इत्याकारको निश्चयः—अवायः ॥ ९ ॥

स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा ॥ १० ॥

स एव—अवाय एव, दृढतमावस्थापन्नः—सादरस्य प्रमातुः किञ्चित् कालं तिष्ठन् धारणेत्यभिधीयते ।

इदमत्र सूत्रचतुष्टस्य तात्पर्यम्—इन्द्रियविषयसन्निपातानन्तरं प्रथमम् 'अस्ति किञ्चिद्' इत्याकारं निराकारं ज्ञानमुत्पद्यते, तद् दर्शनमित्यभिधीयते, तादृशदर्शनानन्तरं मनुष्यत्वाद्यवान्तरसामान्याकारविशिष्टम्—'अयं मनुष्यः' इत्याकारकं यज्ज्ञानमुत्पद्यते सोऽवग्रह इत्युच्यते, तदनन्तरम् 'अनेन कान्यकुब्जेन भवितव्यम्' इत्याद्याकारं विशेषाऽऽकाङ्क्षणमीहाज्ञानं भवति, ततः 'अयं कान्यकुब्ज एव' इत्याकारकं निश्चयात्मकं ज्ञानमुन्मज्जति सोऽवायः, स एवावायः सादरस्य प्रमातुः किञ्चित् कालं तिष्ठन् धारणेत्यभिधीयते ॥ १० ॥

संशयपूर्वकत्वादीहायाः संशयाद् भेदः ॥ ११ ॥

ईहायाः—'अनेन कान्यकुब्जेन भवितव्यम्' इत्याकारकस्य ज्ञानस्य, संशयपूर्वकत्वात्—'किमयं कान्यकुब्जः, उत पाञ्चालः ?' इत्यकारकसंशयपूर्वकत्वात्, संशयाद् भेदः-ईहा संशयाद् भिन्नेत्यर्थः। संशयस्याप्रमाणत्वादवग्रहादिषु पाठो न कृतः ॥ ११ ॥

कथञ्चिदभेदेऽपि परिणामविशेषादेषां व्यपदेशभेदः ॥ १२ ॥

एषां—दर्शनावग्रहादीनां, कथञ्चिद्—द्रव्यनयापेक्षया, अभेदेऽपि—एकत्वेऽपि, परिणामविशेषात्—पर्यायनयापेक्षया, व्यपदेशभेदः—भिन्नत्वेन प्रतिपादनमित्यर्थः ।

एकजीवद्रव्ये दर्शनादीनां कथञ्चिदविष्वग्भावेन विद्यमानत्वादेकत्वेपि परिणामापेक्षया कथञ्चित्पृथक्त्वेन प्रतिपादनमिति भावः ॥ १२ ॥

असामस्त्येनाप्युत्पद्यमानत्वेन, असंकीर्णस्वभावतयाऽनुभूयमानत्वाद्, अपूर्वापूर्ववस्तुपर्यायप्रकाशकत्वात्, क्रमभावित्वात् चैते व्यतिरिच्यन्ते ॥१३॥

एते- दर्शनावग्रहादयो व्यतिरिच्यन्ते-परस्परं पृथक्त्वेन वर्त्तन्ते। कस्माद् ? असंकीर्णस्वभावतयाऽनुभूयमानत्वात्-भिन्नभिन्नस्वरूपेण ज्ञायमानत्वात् । सामस्त्येनोत्पत्तिस्थले नैषामसंकीर्णस्वभावतयाऽनुभूयमानतास्ति, अत उक्तम्-'असामस्त्येनाप्युत्पद्यमानत्वात्' इति कदाचिद् दर्शनमेव, कदाचिद् दर्शनावग्रहौ, कदाचिद् दर्शनावग्रहसंशयेहा इत्यादिरूपेणासंपूर्णतयाऽप्युत्पद्यमानत्वात् । असामस्त्येनाप्युत्पद्यमानत्वमसंकीर्णस्वभावतयानुभूयमानत्वे हेतुः, असंकीर्णस्वभावतयाऽनुभूयमानत्वं च दर्शनावग्रहादीनां परस्परभिन्नत्वे हेतुः, अयमेको हेतुः, अपूर्वापूर्ववस्तुप्रकाशकत्वात्-वस्तुनो भिन्नभिन्नधर्मस्य प्रकाशकत्वात्, अयं द्वितीयो हेतुः । क्रमभावित्वाच्च-क्रमेणोत्पद्यमानत्वाच्च, अयं तृतीयो हेतुः । तथा च येऽसंकीर्णस्वभावतयाऽनुभूयन्ते, अपूर्वापूर्ववस्तुपर्यायप्रकाशकाः, क्रमभाविनो वा ते परस्परं व्यतिरिक्ताः यथा स्तम्भादयः, अनुमानादयः, अङ्कुरकन्दलकाण्डादयो वा, तथा चैते दर्शनावग्रहादयः, तस्मात् परस्परं भिन्ना इति ॥ १३ ॥

क्रमोऽप्यमीषामयमेव तथैव संवेदनाद्, एवं क्रमाविर्भूतनिजकर्मक्षयोपशमजन्यत्वाच्च ॥१४॥

अमीषां-दर्शनावग्रहादीनां, क्रमोऽप्ययमेव-आदौ दर्शनं, तदनन्तरमवग्रहः, ततः संशयः, पश्चादीहा, ततोऽवायः, ततो धारणा,

इत्याकारक एव, तथैव संवेदनात्-अनुभूयमानत्वात्, एवंक्रमेणाविर्भूतो यो निजकर्मणो दर्शन-ज्ञानाऽऽवरणस्वरूपस्य क्षयोपशमः, तत्कार्यत्वाच्चायमेव क्रमः, येन क्रमेण दर्शनाद्यावरणकर्मणः क्षयोपशमो भवति तेनैव क्रमेण दर्शनादय उत्पद्यन्ते इति भावः ॥ १४ ॥

अन्यथा प्रमेयानवगतिप्रसङ्गः ॥ १५ ॥

अन्यथा-यथोक्तक्रमानङ्गीकारे, प्रमेयानवगतिप्रसङ्गः-वस्तुनोऽनवभासप्रसङ्गः स्यात् ॥ १५ ॥

न खल्वदृष्टमवगृह्यते, न चानवगृहीतं संदिह्यते, न चासंदिग्धमीह्यते, न चानीहितमवेयते, नाप्यनवेतं धार्यते ॥ १६ ॥

अदृष्टे वस्तुनि अवग्रहो न भवति, अवगृहीते संदेहो न भवति, असन्दिग्धे ईहा न भवति, अनीहिते अवायो न भवति, अवायाऽविषयीकृते वस्तुनि धारणा न भवति ॥ १६ ॥

क्वचित् क्रमस्यानुपलक्षणमेषाम् आशूत्पादाद् उत्पलपत्रशतव्यतिभेदक्रमवत् ॥ १७ ॥

अयमर्थः—यथा सूच्यादिना क्रियमाणस्योत्पलशतपत्रस्य भेदक्रमः शीघ्रोत्पन्नत्वान्न ज्ञायते, तथा क्वचित् करतलादौ दर्शनादीनामपि क्रमो नानुभूयते ॥ १७ ॥

पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम् ॥ १८ ॥

---

१. तथाहि-न खल्व° **क, ख** ।

आत्ममात्रापेक्षम्—जीवद्रव्यमेवापेक्षते । अयं भावः—सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमिन्द्रियादिसापेक्षमात्मद्रव्यमलम्ब्योत्पद्यते, पारमार्थिकं तु प्रत्यक्षमिन्द्रियादिनिरपेक्षमात्मद्रव्यमवलम्ब्योत्पद्यते, इति ॥ १८ ॥

तद् विकलं सकलं च ॥ १९ ॥

तत्—पारमार्थिकं तु प्रत्यक्षम्, विकलम्—असमग्रविषयकम्, सकलम्—समग्रविषयकमिति द्विभेदमित्यर्थः ॥ १९ ॥

तत्र विकलमवधि-मनःपर्यायज्ञानरूपतया द्वेधा ॥ २० ॥

तत्र- विकल-सकलयोर्मध्ये, विकलं—विकलाख्यं प्रत्यक्षम्, अवधि-मनःपर्यायभेदेन द्विविधमित्यर्थः ॥ २० ॥

अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं रूपिद्रव्यगोचरमवधिज्ञानम् ॥ २१ ॥

अवधिज्ञानस्य यदावरणं तस्य विलयविशेषात्—क्षयोपशमनामकाद् विनाशाद्, उत्पन्नं भवगुणप्रत्ययं—भवः—सुर-नारकजन्मलक्षणः, गुणः—क्षयोपशमसम्यग्दर्शनादिः, तौ प्रत्ययौ कारणे यस्य तद् भवगुणप्रत्ययं—भवकारणकं, गुणकारणकं चेति। तत्र सुर-नारकाणामवधिज्ञानं सुरनारकजन्मग्रहणमात्रेणैवोत्पद्यत इति भवप्रत्ययमित्युच्यते; नर-तिरश्चां तु सम्यग्दर्शनादिगुणैस्तत्प्रादुर्भवतीति गुणप्रत्ययमित्यभिधीयते, रूपिद्रव्यगोचरम्—पृथिव्यप्-तेजो-वाय्वन्धकार-च्छायाप्रभृतीनि रूपिद्रव्याणि, तद्विषयकम् ॥२१॥

संयमविशुद्धिनिबन्धनाद् विशिष्टाऽऽवरणविच्छेदाज्जातं मनोद्रव्यपर्यायालम्बनं मनःपर्यायज्ञानम् ॥ २२ ॥

संयमस्य—चारित्रस्य, विशुद्धिः—निर्मलता, निबन्धनं-कारणं यस्य स संयमविशुद्धिनिबन्धनो यो विशिष्टावरणविच्छेदः—मनःपर्यायज्ञानावरण-क्षयोपशम इति यावत्। तस्माज्जातं—उत्पन्नं, मनोद्रव्यपर्यायालम्बनम्—मनोद्रव्यपर्यायविषयकं मनःपर्यायज्ञानम्। चारित्रविशुद्ध्या मनःपर्याय-ज्ञानाऽऽवरणस्य क्षयोपशमो भवति, तेन च मनोद्रव्यपर्यायविषयकं ज्ञानमुत्पद्यते, तन्मनःपर्यायज्ञानमुच्यते ॥ २२ ॥

सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतसमस्तावरणक्षया-पेक्षं निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम् ॥ २३ ॥

सकलं तु—सकलाख्यं पारमार्थिकं प्रत्यक्षं पुनः, सामग्रीविशेष-समुद्भूतसमस्तावरणक्षयापेक्षम्—सामग्री द्विविधा, बहिरङ्गा अन्तरङ्गा च, तत्रान्तरङ्गा सामग्री प्रकर्षप्राप्तक्षपकश्रेणिसम्यग्दर्शनादिस्वरूपा, बहिरङ्गा पुनर्जिनकालिकमनुष्यभवादिरूपा, तेन सामग्रीविशेषेण समुद्-भूतः—समुत्पन्नो यः समस्ताऽऽवरणक्षयः तदपेक्षं—तत्कारणकं निखिल-द्रव्यपर्यायाणां यः साक्षात्कारस्तत्स्वरूपं केवलज्ञानं ज्ञातव्यम् ॥ २३ ॥

तद्वान् अर्हन् निर्दोषत्वात् ॥ २४ ॥

तद्वान्—केवलज्ञानवान्। तथा च प्रयोगः—अर्हन् सर्वज्ञः, निर्दोषत्वात्, यो न सर्वज्ञः स न निर्दोषः, यथा रथ्यापुरुषः, निर्दोष-श्चार्हन्, तस्मात् सर्वज्ञः ॥ २४ ॥

निर्दोषोऽसौ प्रमाणाऽविरोधिवाक्त्वात् ॥ २५ ॥

ननु अर्हतो निर्दोषत्वमेवासिद्धम्, तत् कथमनेन सर्वज्ञसिद्धिः ? इत्याशङ्कायां तत्साधकमनुमानान्तरमाहुः—निर्दोषोऽसौ इति—असौ

अर्हन् निर्दोषः, प्रमाणविरोधिवाक्त्वात्, यो न निर्दोषः, स न प्रमाणाऽविरोधिवाक्, प्रमाणाऽविरोधिवाक् चार्हन्, तस्मान्निर्दोष इति ॥२५॥

तदिष्टस्य प्रमाणेनाबाध्यमानत्वात् तद्वाचस्तेनाविरोधसिद्धिः ॥ २६ ॥

अर्हतः प्रमाणाविरोधिवाक्त्वप्रसाधकानुमानान्तरमाहुः — तदिष्टस्येति—अर्हन् प्रमाणाविरोधिवाक्, तदिष्टस्य—अनेकान्ततत्त्वस्य प्रमाणेनाऽबाध्यमानत्वाद् भिषग्वत् । अनेन सूत्रचतुष्टयेन सर्वज्ञाऽऽलापको **मीमांसकः** प्रतिक्षिप्तो वेदितव्यः ॥ २६ ॥

न च कवलाहारवत्त्वेन तस्यासर्वज्ञत्वम्, कवलाऽऽहारसर्वज्ञत्वयोरविरोधात् ॥ २७ ॥

दिगम्बराः "केवली कवलाऽऽहारवान् न भवति, छद्मस्थेभ्यो विजातीयत्वात्" इत्यनुमानेन कवलाऽऽहारसर्वज्ञत्वयोर्विरोधमुद्भावयन्ति, तान् निराकर्तुमाहुः—न चेति तस्य—अर्हतः कवलाऽऽहारवत्त्वेनाऽसर्वज्ञत्वं न भवति, कवलाहारसर्वज्ञत्वयो र्विरोधाभावात् । अयं भावः—यदि कवलाहारस्य केवलज्ञानेन सह विरोधो भवेत् तर्ह्यस्मदीयज्ञानेनापि तस्य विरोधोऽपरिहरणीयः स्याद्, ज्ञानत्वाविशेषात्, न हि भास्करप्रभाभिर्निरस्यमानमन्धकारनिकुरम्बं दीपप्रभाभिर्न निरस्यते, तथा च नाऽस्माकमप्याहारापेक्षा भवेत्, न चैवम्, तस्मान्न सर्वज्ञत्व-कवलाहारयोर्विरोध इति दिक् ॥ २७ ॥

इति बालबोधिन्याख्यया टिप्पण्या विभूषिते
श्रीवादिदेवसूरिसंदृब्धे प्रमाणनयतत्त्वा-
लोके प्रत्यक्षस्वरूपनिर्णायको
द्वितीयः परिच्छेदः ।

तृतीयः परिच्छेदः ।

अस्पष्टं परोक्षम् ॥ १ ॥

वैशद्याभावविशिष्टं यत् प्रमाणं तत् परोक्षप्रमाणमित्यर्थः ॥ १ ॥

स्मरण-प्रत्यभिज्ञान-तर्कानुमानागमभेदतस्तत् पञ्चप्रकारम् ॥ २ ॥

तत्—परोक्षप्रमाणम्, अन्यत् स्पष्टम् ॥ २ ॥

तत्र संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् ॥ ३ ॥

अनुभवजन्यो यः संस्कारः—आत्मशक्तिविशेषस्तस्य प्रबोधात् सम्भूतम्—उत्पन्नम्, इति कारणनिरूपणम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनुभूतोऽर्थः—विषयो यस्य तदनुभूतार्थविषयम्, इति विषयप्रदर्शनम्, तदित्याकारं—तच्छब्देनोल्लेखनीयम्, इति स्वरूपप्रतिपादनम्, वेदनं—ज्ञानं स्मरणमित्युच्यते ।

स्मरणं प्रत्युद्बुद्धसंस्कारः कारणम् । अनुभूतार्थस्तस्य विषयः । तच्छब्देनोल्लेखस्तस्य स्वरूपमिति ॥ ३ ॥

तत् तीर्थंकरबिम्बमिति यथा ॥ ४ ॥

तदित्यनेन यत् प्राक् प्रत्यक्षीकृतं स्मृतं प्रत्यभिज्ञातं वितर्कितमनुमितं श्रुतं वा भगवतस्तीर्थंकरस्य बिम्बं—प्रतिकृतिः तस्य परामर्शः ॥४॥

अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ॥ ५ ॥

अनुभवस्मृतिहेतुकं–प्रत्यक्षादिप्रमाणजन्यं ज्ञानमनुभवः, स्मृतिश्चानन्तरोक्ता, ते हेतुर्यस्य तद् इति कारणनिरूपणम्, गवादिषु सदृशपरिणामस्वरूपं गोत्वादिकं तिर्यक्सामान्यमित्युच्यते। कटककुण्डलादिपर्यायेषु यदन्वयिद्रव्यं सुवर्णादि तदूर्ध्वतासामान्यमित्युच्यते। एतदुभयमादिर्यस्य विसदृशपरिणामादेः, तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरो–विषयो यस्य तत् तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरम्, इति विषयनिरूपणम्, संकलनात्मकं–पदार्थस्य विवक्षितधर्मयुक्तत्वेन प्रत्यवमर्शनमात्मा स्वभावो यस्य तद् इति स्वरूपकथनम्, एतादृशं यज्ज्ञानं तत् प्रत्यभिज्ञानमुच्यते।

प्रत्यभिज्ञानं प्रति अनुभवः स्मृतिश्च कारणम्। वस्तुनो विवक्षितधर्मयुक्तत्वेन प्रत्यवमर्शनं तस्य स्वरूपमिति भावः ॥ ५ ॥

यथा तज्जातीय एवायं गोपिण्डः, गोसदृशो गवयः, स एवायं जिनदत्त इत्यादि ॥ ६ ॥

'तज्जातीय एवायं गोपिण्डः' इति तिर्यक्सामान्योदाहरणं, 'गोसदृशो गवयः' इति पुनरपि तिर्यक्-सामान्यस्योदाहरणप्रदर्शनं नैयायिकाद्यभिमतस्योपमानप्रमाणस्य निरासार्थं, सिद्धान्ते उपमानप्रमाणस्य प्रत्यभिज्ञानेऽन्तर्भावात्। तथाहि–कश्चित् पुमान् वनेचरसकाशाद् यदा 'गोसदृशो गवयः' इति वाक्यं शुश्राव, तदैव तस्य मनसि सामान्यरूपेण प्रतिभासमाने गवयपिण्डे गवयशब्दस्य सम्बन्धज्ञान-

मभूत्, पश्चाद् वनं गतस्यास्य गवयदर्शने जाते प्राक्तनसामान्याकार-सम्बन्धस्मरणे च 'स एष गवयपदवाच्यः' इति संकलनाज्ञानरूपं प्रत्यभिज्ञानं प्रादुर्भवति, एवं 'गोसदृशो महिषः' इत्याद्यपि तथारूपत्वात् प्रत्यभिज्ञानमेव। 'स एवायं जिनदत्तः' इत्यूर्ध्वतासामान्यस्योदाहरणम्, आदिशब्दात् 'स एव वह्निरनुमीयते मया' 'स एवार्थोऽनेनाप्युच्यते' इत्यादिस्मरणसहितानुमानादिजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं ज्ञातव्यम् ॥ ६ ॥

उपलम्भानुपलम्भसंभवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधन-सम्बन्धाद्यालम्बनम् 'इदमस्मिन् सत्येव भवति' इत्याद्याकारं संवेदनम्, ऊहाऽपरनामा तर्कः ॥ ७ ॥

प्रमाणमात्रेण ग्रहणमुपलम्भः, प्रमाणमात्रेणाग्रहणमनुपलम्भः, ताभ्याम्—उपलम्भानुपलम्भाभ्यां, सम्भवः—उत्पत्तिर्यस्य तत् तथा, इति कारणकीर्त्तनम्। त्रिकालवर्त्तिसाध्य-साधनयोः सम्बन्धः—व्याप्तिः, स आदिर्यस्य निःशेषदेशकालवर्त्तिवाच्य-वाचकभावसम्बन्धस्य, स आलम्बनं-विषयो यस्य तत् तथा, इति विषयनिरूपणम्। 'इदमस्मिन् सत्येव भवति इदमस्मिन्नसति न भवत्येव' इत्याकारं संवेदनं तर्कः, तस्यैव ऊहेति नामान्तरम्।

अयं भावः—'वह्नौ सत्येव धूमो भवति वह्न्यभावे न भवति' इत्याकारकं ज्ञानं तर्क इत्युच्यते, 'वह्निसत्त्वे धूमोपलम्भो वह्न्यभावे धूमस्यानुपलम्भः' इति उपलम्भानुपलम्भाभ्यामयं तर्क उत्पद्यते। अस्य तर्कस्य वह्नि-धूमयोरविनाभावो विषयः ॥ ७ ॥

यथा यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसत्यसौ न भवत्येव ॥८॥

इदं च तर्कापरपर्यायं व्याप्तिज्ञानं तदोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां प्रवर्तत इति प्रदर्शयन्ति, यथेत्यादिना—अत्राऽऽद्यमुदाहरणमन्वयव्याप्तौ, द्वितीयं तु व्यतिरेकव्याप्ताविति ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

अनुमानं द्विप्रकारम्, स्वार्थं परार्थं च ॥ ९ ॥

स्वार्थानुमान-परार्थानुमानभेदादनुमानं द्विविधमित्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्य-विज्ञानं स्वार्थम् ॥ १० ॥

हेतुग्रहण-सम्बन्धस्मरणाभ्यां जायमानं यत् साध्यस्य ज्ञानं तत् स्वार्थानुमानमित्यर्थः ।

अयं भावः—वनं गतः कश्चित् पुमान् प्रथमं पर्वतवृत्तिधूमलेखां पश्यति, ततः 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' इत्याकारिकां व्याप्तिं स्मरति, ततः 'अयं वह्निमान्' इत्याकारकं यज्ज्ञानमुन्मज्जति तत् स्वार्थानुमानमित्युच्यते ॥ १० ॥

निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः ॥ ११ ॥

अन्यथानुपपत्तिः—अविनाभावः, सा च साध्यवद् भिन्नावृत्तित्व-रूपा, हेत्वधिकरणवृत्त्यभावाऽप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा वा । निश्चिताऽन्यथानुपपत्तिरेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स हेतुरित्यर्थः ॥ ११ ॥

न तु त्रिलक्षणकादिः ॥ १२ ॥

त्रीणि लक्षणानि—पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षाऽसत्त्वानि यस्य स त्रिलक्षणकः **सौगत**सम्मतः, आदिपदेनासत्प्रतिपक्षत्वमबाधितविषयत्वमिति द्वयं मिलित्वा **नैयायिका**भिमतः पञ्चलक्षणकश्च हेतुर्न भवतीति भावः ॥ १२ ॥

तस्य हेत्वाभासस्यापि सम्भवात् ॥ १३ ॥

तस्य पक्षसत्त्वादिरूपस्य हेतुलक्षणस्य 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इति हेत्वाभासस्यापि संभवादतिव्याप्तिः स्यात्। अयं भावः—'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इत्यादिव्यभिचारिस्थलेष्वपि हेतोस्त्रिलक्षणत्वादिकं वर्त्तते, तथाहि—पक्षे पर्वते हेतुभूतस्य वह्नेर्विद्यमानत्वात् पक्षसत्त्वम्, सपक्षे—महानसेऽपि विद्यमानत्वात् सपक्षसत्त्वम्, विपक्षात्—जलह्रदाद् व्यावर्त्तमानत्वाद् विपक्षाऽसत्त्वम् प्रतिपक्ष्यनुमानाभावाद् असत्प्रतिपक्षत्वम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्बाधारहितत्वादबाधितत्वं च वर्त्तते, न चास्य सद्धेतुत्वम्, तस्मात् त्रिलक्षणकत्वादि हेतुलक्षणत्वेन **सौगता**दिभिरनङ्गीकरणीयमिति ॥ १३ ॥

अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ॥ १४ ॥

अप्रतीतम्—अनिश्चितम्, अनिराकृतम्—प्रत्यक्षादिप्रमाणैरबाधितम्, अभीप्सितम्—साध्यत्वेनेष्टम्, साध्यं भवतीति शेषः ॥ १४ ॥

शङ्कितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यताप्रतिपत्त्यर्थमप्रतीतवचनम् ॥ १५ ॥

अनन्तरसूत्रे 'अप्रतीतम्' इति वचनाऽभावे शङ्कितविषयाणां

विपरीतानामनध्यवसित(अनिश्चित)वस्तूनां साध्यत्वं न स्याद्, इत्य-प्रतीतवचनम् ॥ १५ ॥

प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसज्यतामित्य-निराकृतग्रहणम् ॥ १६ ॥

प्रत्यक्षविरुद्धं यथा—'वह्निरनुष्णः।' अनुमानविरुद्धं यथा-'शब्दस्य एकान्तनित्यत्वम्'। आगमविरुद्धं यथा—'प्रेत्याऽसुखप्रदत्वं धर्मस्य'। एतादृशानां प्रत्यक्षादिबाधितानां साध्यत्वं मा प्रसज्यतामित्येतदर्थम-निराकृतग्रहणम् ॥ १६ ॥

अनभिमतस्याऽसाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितपदो-पादानम् ॥ १७ ॥

अनभिमतस्य — साधयितुमनिष्टस्य (यथा जैनानां, शब्दे एकान्तनित्यत्वं सर्वथाऽनभिमतं) साध्यत्वं मा भवतु इत्यभीप्सितो-पादानम् ॥ १७ ॥

व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एव, अन्यथा तदनुपपत्तेः ॥ १८ ॥

यद्यपि व्यवहारकाले 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारको धर्मविशिष्टो धर्मी साध्यशब्देन व्यपदिश्यते, तथापि व्याप्तिग्रहणवेलायां साध्य-शब्देन केवलं वह्निरूपो धर्म एव गृह्यते, अन्यथा व्याप्तेरनुपपत्तिः स्यादिति ॥ १८ ॥

नहि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र चित्रभानोरिव धरित्री-धरस्याप्यनुवृत्तिरस्ति ॥ १९ ॥

यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र यथा वह्निरनुवर्तते न तथा पर्वतोऽपि ॥ १९ ॥

आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी ॥ २० ॥

आनुमानिकी प्रतिपत्तिः—अनुमितिः, तदपेक्षया 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारको धर्मविशिष्टो धर्मी साध्यपदेन व्यपदिश्यते, अस्यैव पक्षेति नामान्तरम् ॥ २० ॥

धर्मिणः प्रसिद्धिः क्वचिद् विकल्पतः, कुत्रचित् प्रमाणतः, क्वापि विकल्प-प्रमाणाभ्याम् ॥२१॥

धर्मिणः—पर्वतादेः ॥ २१ ॥

यथा समस्ति समस्तवस्तुवेदी, क्षितिधरकन्धरेयं धूमध्वजवती, ध्वनिः परिणतिमान् ॥ २२ ॥

'समस्तवस्तुवेदी समस्ति' इत्यत्र समस्तवस्तुवेदी सर्वज्ञो धर्मी, तस्य च विकल्पेन प्रसिद्धिः, नहि हेतुप्रयोगात् पूर्वं विकल्पं विहाय सर्वज्ञः केनापि प्रमाणेन सिध्यति । 'क्षितिधरकन्धरेयं धूमध्वजवती' इत्यत्र धर्मिभूतायाः क्षितिधरकन्धरायाः प्रत्यक्षेणैव प्रसिद्धिः । 'ध्वनिः परिणतिमान्' इत्यत्र धर्मिणो—ध्वनेः प्रमाणेन विकल्पेन च प्रसिद्धिः, श्रूयमाणस्य शब्दस्य प्रत्यक्षप्रमाणेन, अतीतानागतयोस्तु विकल्पेन प्रसिद्धिरिति विवेकः ॥ २२ ॥

पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानम्, उपचारात् ॥ २३ ॥

'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्याकारकं पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानम्, उपचारात्—पक्षहेतुवचनस्य जडत्वेन मुख्यतः प्रामाण्यासम्भवात् तत्रानुमानशब्दप्रयोगः, कारणे कार्योपचारादौपचारिकः, बोधव्यगतं ज्ञानं कार्यं, तस्य च कारणं पक्षहेतुवचनम्। अथवा कार्ये कारणोपचारात्, वक्तृगतं स्वार्थानुमानं कारणं तस्य पक्षहेतुवचनं कार्यमिति ॥ २३ ॥

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसम्बन्धिताप्रसिद्धये हेतोरुपसंहारवचनवत् पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २४ ॥

अयं भावः—बौद्धाः खलु प्रक्षप्रयोगं नाङ्गीकुर्वन्ति, ते हि कदाचित् "यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसं, धूमवांश्चायम्" इत्याकारकं व्याप्तिपुरस्सरं पक्षधर्मतोपसंहारं,कदाचित् "धूमवानयं, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्" इत्याकारकं पक्षधर्मताप्रदर्शनपूर्वकं व्याप्त्युपसंहारमेवानुमानं वदन्ति, तान् पक्षप्रयोगमङ्गीकारयितुमाहुः—साध्यस्येत्यादि—यथा हेतोः प्रतिनियतधर्मिसम्बन्धिताप्रसिद्ध्यर्थं "धूमवांश्चायम्" इत्याकारकं हेतोरूपसंहारवचनं स्वीक्रियते, तथैव साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसम्बधिताप्रसिद्ध्यर्थं 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारकः पक्षप्रयोगोऽप्यङ्गीकर्तव्य इति ॥ २४ ॥

[1]त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ? ॥ २५ ॥

---

१. यथा त्रिविधं क ।

कार्यस्वभावानुपलम्भभेदात् त्रिविधं साधनमभिधाय–उक्त्वा, असिद्धतादिनिरसनद्वारा स्वसाध्यसाधनसामर्थ्यप्रदर्शनरूपं तत्समर्थनं विदधानः–कुर्वाणः कः खलु पक्षप्रयोगं नाङ्गीकुरुते ? अपि तु सर्वोऽपि प्रामाणिकः स्वीकुरुते इत्यर्थः । अयं भावः–पक्षप्रयोगमन्तरा त्रिविधस्य हेतोः समर्थनं निराश्रयं स्यात्, तस्मात् तत्समर्थनं कुर्वता **सौगतेन** पक्षप्रयोगोऽवश्यमङ्गीकर्तव्य एव ॥ २५ ॥

प्रत्यक्षपरिच्छिन्नार्थाभिधायिवचनं परार्थं प्रत्यक्षं, परप्रत्यक्षहेतुत्वात् ॥ २६ ॥

यथानुमानेन प्रतीतोऽर्थः परं प्रति प्रतिपाद्यमानो वचनरूपापन्नः परार्थमनुमानमभिधीयते तथा प्रत्यक्षेणावगतोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रतिपाद्यमानः परार्थं प्रत्यक्षमित्युच्यताम्, परप्रत्यायनस्योभयत्राप्यविशिष्टत्वादिति भावः ॥ २६ ॥

यथा पश्य पुरः स्फुरत्किरणमणिखण्डमण्डिताभरणभारिणीं जिनपतिप्रतिमाम् ॥ २७ ॥

पक्ष-हेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम् ॥ २८ ॥

'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्याकारकमवयवद्वयमेव प्रतिपाद्यगतज्ञानं प्रति कारणं, न दृष्टान्तादिवचनम्, आदिपदेनोपनय-निगमनादयो गृह्यन्ते । एतेन व्याप्तिप्रदर्शनपूर्वकं दृष्टान्तवचनोपेतं पक्षधर्मतोपसंहाररूपमवयवद्वयं **सौगतैः**, पक्ष-हेतु-दृष्टान्तोपनय-निगमनस्वरूपं पञ्चावयवं **नैयायिक-वैशेषिका**भ्यामनुमानमाम्नायि तन्निरस्तं वेदितव्यम् ।

अवयवद्वयस्वीकारश्च व्युत्पन्नमतिप्रतिपाद्यापेक्षया द्रष्टव्यः, अतिव्युत्पन्न-मतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु 'धूमोऽत्र विद्यते' इति हेतुप्रयोगमात्रात्मक-मेवानुमानं भवति, "मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनय-निगमनान्यपि प्रयोज्यानि" [३-४३] इति वक्ष्यन्ति ॥ २८ ॥

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥ २९ ॥

'वह्निसत्त्वे एव धूमसत्त्वम्' इत्याकारकसाध्यसद्भावप्रकारेण हेतो-रुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, 'वह्न्यभावे धूमाभावः' इत्याकारकसाध्याभाव-प्रकारेण हेतोरनुपपत्तिरन्यथानुपपत्तिः, ताभ्यामन्वय-व्यतिरेकस्वरूपाभ्यां तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां हेतुप्रयोगो द्विभेद इत्यर्थः ॥ २९ ॥

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ॥ ३० ॥

यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः सत्येव कृशानुमत्त्वे, धूमवत्त्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा[1] ॥ ३१ ॥

असत्यनुपपत्तेः—असति कृशानुमत्वे धूमवत्त्वस्यानुपपत्तेरित्यर्थः ॥ ३१ ॥

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीय-प्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः ॥ ३२ ॥

अयं भावः—यत्र तथोपपत्तिप्रयोगेण साध्यसिद्धिः संजाता, तत्रान्यथानुपपत्तिप्रयोगस्य नोपयोगः, एवमन्यथाऽनुपपत्तिप्रयोगेण

---

१. °पत्तेरिति क ।

साध्यसिद्धौ संजातायां तथोपपत्तिप्रयोगस्य नोपयोग इति ॥ ३२ ॥

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रभवति, तस्यां पक्षहेतु-वचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३ ॥

नैयायिकादयो दृष्टान्तोपनय-निगमनान्यप्यनुमानाङ्गत्वेनाङ्गी-कुर्वन्ति, तत्र तैर्दृष्टान्तवचनं किं परप्रतिपत्त्यर्थं स्वीक्रियते, उत व्याप्ति-निर्णयार्थम्, आहोस्विद् व्याप्तिस्मरणार्थम्? इति विकल्पत्रयमुद्भाव्य प्रथमं विकल्पं दूषयन्ति—न दृष्टान्तवचनमिति—'पर्वतो वह्निमान् धूम-वत्त्वान्यथाऽनुपपत्तेः' इति पक्षहेतुवचनलक्षणावयवद्वयेनैवाविस्मृतसम्ब-न्धस्य साध्यप्रतिपत्तिसम्भवे दृष्टान्तवचनं निरर्थकमिति भावः ॥ ३३ ॥

न च हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये यथोक्ततर्क-प्रमाणादेव तदुपपत्तेः ॥ ३४ ॥

द्वितीयविकल्पं दूषयन्ति—न चेति—हेतोर्व्याप्तिनिर्णयार्थमपि दृष्टान्तस्य नोपयोगः, तर्कप्रमाणादेव व्याप्तिनिर्णयोपपत्तेः ॥ ३४ ॥

नियतैकविशेषस्वभावे च दृष्टान्ते साकल्येन व्याप्ते-रयोगतो विप्रतिपत्तौ तदन्तरापेक्षायामनवस्थिते-र्दुर्निवारः समवतारः ॥ ३५ ॥

अयं भावः—पक्षे वह्नि-धूमयोर्व्याप्तिनिर्णयार्थं यदि दृष्टान्तस्य महा-नसस्योपयोगः, तर्हि नियतैकविशेषस्वरूपे दृष्टान्ते महानसे व्याप्तिनिर्णयः कथं जातः? इति वक्तव्यम्, अन्येन दृष्टान्तेन चेत्, तत्रापि कथम्? अन्येन चेत्, अनवस्थादुस्तरा महानदी, तस्मात् तर्कप्रमाणादेव व्याप्ति-निर्णयोपपत्तौ तदर्थं दृष्टान्तवचनं न कर्तव्यमिति ॥ ३५ ॥

नाप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य व्युत्पन्नमतेः पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तत्प्रसिद्धेः ॥ ३६ ॥

व्याप्तिस्मरणार्थमपि दृष्टान्तवचनं न प्रभवति प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य—गृहीतव्याप्तिकस्य व्युत्पन्नमतेः 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इत्याकारकपक्ष-हेतुप्रदर्शनेनैव तत्प्रसिद्धेः– व्याप्तिस्मरणस्य प्रसिद्धेः॥ ३६॥

अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् ॥ ३७ ॥

'मत्पुत्रोऽयं बहिर्वक्ति एवंरूपस्वरान्यथानुपपत्तेः' इत्यत्र बहिर्व्याप्त्यभावेऽपि हेतोर्गमकत्वदर्शनात्, एवं 'स श्यामः तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्' इत्यत्र बहिर्व्याप्तिसद्भावेऽपि गमकत्वस्याऽदर्शनाद् बहिर्व्याप्तिः—दृष्टान्तस्योद्भावनं व्यर्थम् ॥ ३७ ॥

पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः ॥ ३८ ॥

यथा अनेकान्तात्मकं वस्तु, सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेरिति, अग्निमानयं देशः, धूमवत्त्वाद्, य एवं स एवं, यथा पाकस्थानमिति च ॥ ३९ ॥

१. °बन्धकस्य क ।

२. नेदं सूत्रं स्याद्वादरत्नाकरे मुद्रितं व्याख्यातं च ।

३. तथैवोपपत्तेः......पाकस्थानम् कख ।

४. अस्त्यत्र पाठान्तरमादर्शद्वयेऽपि, एवमन्यत्रापि यद् यत् पाठान्तरं तत् सर्वं प्रस्तुतपुस्तकेऽन्यस्थले दत्तमस्माभिरिति ततो ज्ञेयम् । संशोधकः– अनेकान्ती मुनिः ।

'वस्तु अनेकान्तात्मकं सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः' अत्र वस्तुमात्रस्य पक्षत्वाद् दृष्टान्ताभावात् पक्षीकृत एव विषये साधनस्य—सत्त्वस्य साध्येन—अनेकान्तात्मकेन सह व्याप्तिर्वर्तते, अत इयमन्तर्व्याप्तिशब्देनोच्यते। 'अयं देशोऽग्निमान् धूमवत्त्वाद्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा पाकस्थानम्' अत्र पक्षीकृतविषयाद् देशादन्यत्र पाकस्थाने साधनस्य धूमस्य साध्येन वह्निना सह व्याप्तिवर्तते, अतो बहिर्व्याप्तिशब्देनोच्यते ॥ ३८-३९ ॥

नोपनय-निगमनयोरपि परप्रतिपत्तौ सामर्थ्यं पक्षहेतु-प्रयोगादेव तस्याः सद्भावात् ॥ ४० ॥

न केवलं दृष्टान्तस्य परप्रतिपत्तावसामर्थ्यम्, अपि तु उपनय-निगमनयोरपि परप्रतिपत्तौ सामर्थ्यं नास्ति, पक्षहेतुप्रयोगादेव परप्रतिपत्तेः सद्भावात् ॥ ४० ॥

समर्थनमेव परं परप्रतिपत्त्यङ्गमास्तां, तदन्तरेण दृष्टान्तादि-प्रयोगेऽपि तदसम्भवात् ॥ ४१ ॥

अयमर्थः – असिद्धत्वादिदोषनिरसनपूर्वकस्वसाध्यसाधनसामर्थ्यप्रदर्शनरूपं हेतोः समर्थनं विना दृष्टान्तादिप्रयोगेऽपि न साध्यसिद्धिर्भवितुमर्हतीति समर्थनमेव परप्रतिपत्तावङ्गं भवतु किं दृष्टान्तादिप्रदर्शनेन ? ॥ ४१ ॥

व्युत्पन्नानाश्रित्य परार्थानुमानस्वरूपमुक्तं, संप्रति मन्दमतीनाश्रित्य तत् प्रदर्शयन्ति—

मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनय-निगमनान्यपि प्रयोज्यानि ॥ ४२ ॥

अपिशब्दात् पक्षहेतू, पक्षादिषु सम्भाव्यमानदोषनिराकरणरूपाः शुद्धयश्च पञ्च ग्राह्याः ॥ ४२ ॥

प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्तः ॥ ४३ ॥

प्रतिबन्धः—व्याप्तिः तस्याः प्रतिपत्तेः—स्मरणस्य, आस्पदं स्थानं-महानसादिदृष्टान्त इत्युच्यते ॥ ४३ ॥

स द्वेधा साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च ॥ ४४ ॥

समानो धर्मो यस्यासौ सधर्मा तस्य भावः साधर्म्यम्—अन्वयः, विरुद्धो धर्मो यस्यासौ विधर्मा तस्य भावो वैधर्म्यम्—व्यतिरेकः, ताभ्यां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यामन्वय-व्यतिरेकाभ्यां दृष्टान्तो द्विभेदः इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

यत्र साधनधर्मसत्तायामवश्यं साध्यधर्मसत्ता प्रकाश्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः ॥ ४५ ॥

***यथा यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निर्यथा महानसः [°सम्] ॥ ४६ ॥**

***यत्र तु साध्याभावे साधनस्यावश्यमभावः प्रदर्श्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥ ४७ ॥**

***यथाऽग्न्यभावे न भवत्येव धूमः, यथा जलाशये ॥ ४८ ॥**

हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः ॥ ४९ ॥

---

* एतच्चिह्नाङ्कितं सूत्रत्रयमपि न मुद्रितं स्याद्वादरत्नाकरे । सं०

१. महानसे ख । २. जलाश्रयः ।

***यथा धूमश्चात्र प्रदेशे ॥ ५० ॥**

हेतोर्धूमस्य, साध्यधर्मिणि पर्वते, उपसंहरणं–'धूमश्चात्र पर्वते' इत्यादिरूपेण प्रदर्शनम्, उपनयशब्देनोच्यते ॥ ४९–५० ॥

साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम् ॥ ५१ ॥

***यथा तस्मादग्निरत्र ॥ ५२ ॥**

साध्यधर्मस्य वह्नेः, साध्यधर्मिणि पर्वते 'तस्मादग्निरत्र' इत्यादिरूपेणोपसंहरणं निगमनमित्युच्यते ॥ ५१–५२ ॥

एते पक्षप्रयोगादयः पञ्चाप्यवयवसंज्ञया कीर्त्यन्ते ॥ ५३ ॥

पक्ष-हेतु-दृष्टान्तोपनय-निगमनानि, अपिशब्दात् तेषां शुद्धयश्च पञ्च, अवयवशब्देनोच्यन्ते, इति ॥ ५३ ॥

उक्तलक्षणो हेतुर्द्विप्रकारः, उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां भिद्यमानत्वात् ॥ ५४ ॥

उपलब्धिः–उपलम्भः, अनुपलब्धिः–अनुपलम्भः ताभ्यामुपलम्भानुपलम्भाभ्यां हेतुर्द्विप्रकार इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

उपलब्धिर्विधि-निषेधयोः सिद्धिनिबन्धनमनुपलब्धिश्च ॥ ५५ ॥

साध्यं द्विविधं विधिरूपं निषेधरूपं च, हेतुश्च द्विविध उपलब्धिरूपोऽनुपलब्धिरूपश्च, तत्र उपलब्धिरूपो हेतुर्विधिरूपस्य साध्यस्य

* इदमपि सूत्रं न मुद्रितं न व्याख्यातं च स्याद्वादरत्नाकरे। सं०

साधकः, अनुपलब्धिरूपो हेतुर्निषेधरूपस्य साध्यस्य साधक इति येऽभिमन्यन्ते तान् निराकर्तुमाहुः—उपलब्धिरिति—

अयं भावः—यथा उपलब्धिरूपस्य साध्यस्य साधिका तथा निषेधरूपस्यापि, एवमनुपलब्धिर्यथा निषेधरूपस्य साध्यस्य साधिका तथा विधिरूपस्यापि, तस्मादुपलब्धिर्विधिरूपस्यैव साध्यस्य साधिका, अनुपलब्धिर्निषेधरूपस्यैवेति नियमो न कर्तव्यः ॥ ५५ ॥

विधिः सदंशः ॥ ५६ ॥

सदसदात्मकस्य वस्तुनो यः सदंशः—भावरूपः स विधिरित्यर्थः ॥ ५६ ॥

प्रतिषेधोऽसदंशः ॥ ५७ ॥

सदसदात्मकस्य वस्तुनो योऽसदंशः—अभावरूपः स प्रतिषेध इति ॥ ५७ ॥

स चतुर्धा प्रागभावः प्रध्वंसाभाव इतरेतराभावोऽत्यन्ताभावश्च ॥ ५८ ॥

सः—प्रतिषेधः प्रागभावादिभेदेन चतुर्विध इत्यर्थः। वस्तुन उत्पत्तेः प्राग् अभावः प्रागभावः, प्रध्वंसरूपोऽभावः प्रध्वंसाभावः, इतरस्येतरस्मिन्नभाव इतरेतराभावः, अत्यन्तं कालत्रयेऽप्यभावोऽत्यन्ताभावः॥५८॥

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः ॥ ५९ ॥

यस्य पदार्थस्य—निवृत्तावेव नाशे एव सति, कार्यस्य समुत्पत्तिः स पदार्थः, अस्य कार्यस्य प्रागभावः ॥ ५९ ॥

यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्डः ॥ ६० ॥

मृतपिण्डस्य नाशे सत्येव घटस्योत्पत्तिर्भवति अतः मृत्पिण्ड एव घटस्य प्रागभावः ॥ ६० ॥

यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः ॥ ६१ ॥

यस्य पदार्थस्योत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः—विनाशः स पदार्थः, अस्य कार्यस्य प्रध्वंसाभावः ॥ ६१ ॥

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

घटनाशमन्तरा कपालोत्पत्तिर्न भवतीति कपालकदम्बकं घटस्य प्रध्वंसाभावः ॥ ६२ ॥

स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभावः ॥ ६३ ॥

स्वरूपान्तरात्—स्तम्भादिस्वरूपान्तरात्, स्वरूपव्यावृत्तिः—घटादिस्वरूपस्य व्यावृत्तिः, इतरेतराभावः—अन्योऽन्याभाव इत्यर्थः ॥६३॥

यथा स्तम्भस्वभावात् कुम्भस्वभावव्यावृत्तिः ॥ ६४ ॥

यथा स्तम्भस्वभावात्—स्तम्भस्वरूपात्, कुम्भस्वभावस्य कलशस्वरूपस्य, व्यावृत्तिरन्योऽन्याभावः ॥ ६४ ॥

कालत्रयाऽपेक्षिणी[1] हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभावः ॥ ६५ ॥

---

१. °क्षिणी तादा° कख ।

भूत-भविष्यद्-वर्तमानरूपकालत्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरिणाम-निवृत्तिः—एकत्वपरिणामव्यावृत्तिः सोऽत्यन्ताभावः ॥ ६५ ॥

यथा चेतनाऽचेतनयोः ॥ ६६ ॥

यथा चेतनः—जीवो भूत-भविष्यद्-वर्तमानरूपकालत्रयेऽपि अचेतनत्वेन—जडत्वेन न परिणमति, एवमचेतनोऽपि न चेतनस्वरूपेण। तदेवंप्रकारेण चेतनाचेतनयोः कालत्रयेऽपि या तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिः सोऽत्यन्ताभाव इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

उपलब्धेरपि द्वैविध्यमविरुद्धोपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिश्च ॥ ६७ ॥

साध्येन सहाविरुद्धस्य हेतोरुपलब्धिरविरुद्धोपलब्धिः, साध्येन सह विरुद्धस्य हेतोरुपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिरित्युच्यते ॥ ६७ ॥

तत्राविरुद्धोपलब्धिर्विधिसिद्धौ षोढा ॥ ६८ ॥

विधिरूपस्य साध्यस्य सिद्धावविरुद्धोपलब्धिः षोढा—षट्प्रकारेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

षट्प्रकारानाहुः—

साध्येनाविरुद्धानां व्याप्य-कार्य-कारण-पूर्वचरोत्तर-सहचराणामुपलब्धिः ॥ ६९ ॥

साध्येनाविरुद्धस्य व्याप्यस्य, कार्यस्य, कारणस्य, पूर्वचरस्य, उत्तरचरस्य, सहचरस्य चोपलब्धिः व्याप्याविरुद्धोपलब्धिः, कार्याविरुद्धोपलब्धिः, कारणाविरुद्धोपलब्धिः, पूर्वचराविरुद्धोपलब्धिः, उत्तर-

२११२११ ... ५९ ... ३११२

... ५ ...

चराविरुद्धोपलब्धिः, सहचराविरुद्धोपलब्धिरित्यविरुद्धोपलब्धेः षड् भेदा इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

तमस्विन्यामास्वाद्यमानादाम्रादिफलरसाद् एकसामग्र्यनुमित्या रूपाद्यनुमितिमभिमन्यमानैरभिमतमेव किमपि कारणं हेतुतया यत्र शक्तेरमतिस्खलनमपरकारणसाकल्यं च ॥ ७० ॥

बौद्धाः किल वदन्ति—"विधिरूपस्य साध्यस्य सिद्धौ स्वभावकार्ये एव हेतुत्वेनाङ्गीकरणीये न कारणम्, तथाऽयोगोलके वह्निरूपस्य कारणस्य विद्यमानत्वेऽपि धूमरूपकार्यानुत्पादात्" तान् कारणस्यापि हेतुत्वमङ्गीकारयितुमाहुः—तमस्विन्यामित्यादि—

आम्रादिफले रूप-रसयोर्जनिका एकैव सामग्री, तथा च रजन्यामास्वाद्यमानादाम्रादिफलरसात् तज्जनिका सामग्र्यनुमीयते, तया च सामग्र्या रूपानुमानं भवति, एवमभिमन्यमानैः **सौगतैः** स्वीकृतमेव कार्यानुमापकं प्रतिबन्धाभावविशिष्टं कारणान्तरसहकृतं च किमपि कारणम्, तस्मात् कारणस्यापि हेतुत्वमङ्गीकरणीयमिति भावः, एवं 'अस्त्यत्र छाया छत्रात्' इत्यादीन्यपि कारणानुमानानि ज्ञातव्यानि ॥ ७० ॥

पूर्वचरोत्तरचरयोर्न स्वभावकार्य-कारणभावौ, तयोः कालव्यवहितावनुपलम्भात् ॥ ७१ ॥

पूर्वचरोत्तरचरयो स्वभावहेतौ तदुत्पत्तिहेतौ वाऽन्तर्भावो न सम्भवति, तयोः स्वभावकार्य-कारणभावयोः, कालव्यवहितौ—कालव्यवधाने, अनुपलम्भात् ।

कारणभूत सामग्री

अयं भावः—साध्य-साधनयोस्तादात्म्ये सति स्वभावहेतावन्तर्भावो भवेत्, यथा—'अयं वृक्षः शिंशपात्वात्' इत्यस्य स्वभावेऽन्तर्भावः तथा साध्य-साधनयोः कार्य-कारणभावे सति कार्यहेतौ कारणहेतौ वाऽन्तर्भावो विभाव्येत, यथा 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यस्य कार्ये, 'भविष्यति वर्षं तथाविधवारिवाहविलोकनात्' इत्यस्य कारणेऽन्तर्भावः। न च पूर्वचरोत्तरचरयोः स्वभावे कार्य-कारणभावे वाऽन्तर्भावः सम्भवति, स्वभावकार्य-कारणभावयोः कालव्यवधाने उपलम्भाभावात्, पूर्वचरोत्तरचरयोस्तु कालव्यवधानेऽपि उपलम्भो भवति, तस्मान्न स्वभावे कार्ये कारणे वाऽन्तर्भावः ॥ ७१ ॥

न चातिक्रान्तानागतयोर्जाग्रद्दशासंवेदन-मरणयोः प्रबोधोत्पातौ प्रति कारणत्वं, व्यवहितत्वेन निर्व्यापारत्वात् ॥ ७२ ॥

ननु वर्तमानप्रबोधं प्रति अतीतस्य जाग्रद्दशासंवेदनस्य, एवं सांप्रतिकं ध्रुवाऽवीक्षणादिकमरिष्टं प्रति अनागतस्य मरणस्य कारणत्वदर्शनात् कालव्यवधानेऽपि कार्य-कारणभावो भवेत्येवेति वदन्तं निराकुर्वन्नाहुः—न चेत्यादि—

जाग्रद्दशासंवेदन-प्रबोधयोर्मरणारिष्टयोश्च कार्य-कारणभावो न सम्भवति तयोरत्यन्तव्यवहितत्वेन व्यापाराभावात्, नहि निर्व्यापारमपि कारणं भवति, निर्व्यापारस्यापि कारणत्वेऽङ्गीक्रियमाणे सर्वं सर्वं प्रति कारणं भवेत् ॥ ७२ ॥

स्वव्यापारापेक्षिणी हि कार्यं प्रति पदार्थस्य कारणत्वव्यवस्था कुलालस्येव कलशं प्रति ॥ ७३ ॥

अयमर्थः—यद्व्यापारमन्तरा यत् कार्यं नोत्पद्यते तत् कार्यं प्रति तस्य कारणत्वं निश्चीयते यथा कुलालव्यापारमन्तरा घटस्योत्पत्तिर्न भवत्यतो घटं प्रति कुलालस्य कारणत्वं भवति, न चात्यन्तव्यवहिते कार्ये कारणस्य व्यापारः कल्पयितुं शक्यते, अतिप्रसङ्गात् ॥ ७३ ॥

न च व्यवहितयोस्तयोर्व्यापारपरिकल्पनं न्याय्यम्, अतिप्रसक्तेः ॥ ७४ ॥

तयोः—अतिक्रान्तानागतयोः जाग्रद्दशासंवेदन-मरणयोः ॥ ७४ ॥

परम्पराव्यवहितानां परेषामपि तत्कल्पनस्य निवारयितुमशक्यत्वात् ॥ ७५ ॥

प्रबोधोत्पातौ प्रति व्यवहितयोर्जाग्रद्दशासंवेदन-मरणयोरपि व्यापारपरिकल्पनेऽत्यन्तव्यवहितानामतीतानागतानामकारणत्वेनाभिमतानां रावणशङ्खचक्रवर्त्यादीनामपि प्रबोधोत्पातौ प्रति व्यापारपरिकल्पनात् कारणत्वं स्यात्, तथा चानिष्टं स्यादिति भावः ॥ ७५

सहचारिणोः परस्परस्वरूपपरित्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः, सहोत्पादेन, तदुत्पत्तिविपत्तेश्च सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेशः ॥ ७६ ॥

न केवलं पूर्वचरोत्तरचरयोः स्वभावादिष्वन्तर्भावः अपि तु सहचरहेतोरपि न तेष्वन्तर्भावः, तथाहि—सहचारिणोः रूप-रसयोः परस्परस्वरूपपरित्यागेनावस्थितत्वात् तादात्म्यं न सम्भवत्यतो न स्वभावहेतावन्तर्भावः, एवं सव्येतरगोविषाणयोरिव सहैवोत्पद्यमानत्वान्न कार्ये

कारणे वाऽन्तर्भावः, तस्मात् सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु स्वभावादिषु नान्तर्भाव इति ॥ ७६ ॥

ध्वनिः परिणतिमान्, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्, यः प्रयत्नाऽनन्तरीयकः स परिणतिमान्, यथा स्तम्भः, यो वा न परिणतिमान् स न प्रयत्नानन्तरीयकः, यथा वान्ध्येयः, प्रयत्नानन्तरीयकश्च ध्वनिः, तस्मात् परिणतिमानिति व्याप्यस्य साध्येनाविरुद्धस्योपलब्धिः साधर्म्येण वैधर्म्येण च ॥ ७७ ॥

साध्याविरुद्धव्याप्योपलब्धिः

अत्र परिणतिमत्त्वेन साध्येनाविरुद्धस्य प्रयत्नाऽनन्तरीयकत्वस्य व्याप्यस्योपलब्धिर्वर्तते इति व्याप्याविरुद्धोपलब्धिः। यद्यपि धूमादिस्वरूपकार्यादिहेतूनामपि साध्यव्याप्यत्वं वर्तते तथापि तादृशव्याप्यत्वं नेह विवक्षितं अपि तु कथञ्चित्साध्येन सह तादात्म्येन स्थितस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेः स्वरूपमेव व्याप्यत्वेन विवक्षितं अत एवेयं स्वभावोपलब्धिरित्यप्युच्यते ॥ ७७ ॥

अस्त्यत्र गिरिनिकुञ्जे धनञ्जयः, धूमसमुपलम्भात्, इति कार्यस्य ॥ ७८ ॥

अत्र साध्येन वह्निनाऽविरुद्धस्य कार्यस्य धूमस्योपलब्धिर्वर्तते इति कार्याविरुद्धोपलब्धिः ॥ ७८ ॥

---

१. यश्च न क। २. धूमोपलम्भादिति ख।

भविष्यति वर्षं, तथाविधवारिवाहविलोकनात्, इति कारणस्य ॥ ७९ ॥

अत्र साध्येन वर्षेणाऽविरुद्धस्य तथाविधवारिवाहस्य कारणस्योपलब्धिः कारणाविरुद्धोपलब्धिः । एवं 'अस्त्यत्र छाया छत्रात्' इत्यप्युदाहरणं द्रष्टव्यम् ॥ ७९ ॥

उदेष्यति मुहूर्त्तान्ते तिष्यतारका, पुनर्वसूदयदर्शनात्, इति पूर्वचरस्य ॥ ८० ॥

तिष्यतारका—पुष्यनक्षत्रम् । अत्र साध्येन भविष्यत्तिष्यतारकोदयेनाविरुद्धस्य पुनर्वसूदयस्य पूर्वचरस्योपलब्धिरिति पूर्वचराविरुद्धोपलब्धिः । 'अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशीर्षम्, आर्द्रा, पुनर्वसू, पुष्यः, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफल्गुनी, उत्तराफल्गुनी, हस्तः, चित्रा, स्वातिः, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूलम्, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवणः, धनिष्ठा, शतभिषक्; पूर्वाभद्रपदा, उत्तराभद्रपदा, रेवती' इति क्रमेणाष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि ॥ ८० ॥

उदगुर्मुहूर्त्तात् पूर्वं पूर्वफल्गुन्यः, उत्तरफल्गुनीनामुद्गमोपलब्धेः, इत्युत्तरचरस्य ॥ ८१ ॥

अत्र साध्येनातीतपूर्वफल्गुन्युदयेनाविरुद्धस्य उत्तरफल्गुनीनामुद्गमस्योत्तरचरस्योपलब्धिः, इत्युत्तरचराविरुद्धोपलब्धिः ॥ ८१ ॥

इति साध्याविरुद्धोपलब्धिः

---

१. भविष्यति वृष्टिस्तथा° ख ।

२. पूर्वफाल्गुन्य उत्तरफाल्गुनी° कख ।

अस्तीह सहकारफले रूपविशेषः, समास्वाद्यमानरस-विशेषात्, इति सहचरस्य ॥ ८२ ॥

अत्र रूपविशेषेण साध्येनाविरुद्धस्य सहचरस्य रसविशेषस्योपलब्धिरिति सहचराविरुद्धोपलब्धिः ॥ ८२ ॥ साध्याविरुद्ध-सहचरोपलब्धिः

विरुद्धोपलब्धिस्तु प्रतिषेधप्रतिपत्तौ सप्तप्रकारा ॥ ८३ ॥

प्रतिषेधात्मके साध्ये विरुद्धोपलब्धिः सप्तप्रकारा इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

तत्राऽऽद्या स्वभावविरुद्धोपलब्धिः ॥ ८४ ॥

प्रतिषेध्यस्यार्थस्य यः स्वभावः—स्वरूपं तेन सह यत् साक्षाद् विरुद्धं तस्योपलब्धिः स्वभावविरुद्धोपलब्धिः ॥ ८४ ॥

यथा नास्त्येव सर्वथैकान्तः, अनेकान्तस्योपलम्भात् ॥ ८५ ॥

अत्र प्रतिषेध्यः सर्वथैकान्तः तत्स्वरूपेण साक्षाद् विरुद्धोऽनेकान्तः तस्योपलब्धिरिति स्वभावविरुद्धोपलब्धिः ॥ ८५ ॥

प्रतिषेध्यविरुद्धव्याप्तादीनामुपलब्धयः षट् ॥ ८६ ॥

प्रतिषेध्येनार्थेन सह ये साक्षाद् विरुद्धास्तेषां ये व्याप्तादयो व्याप्य-कार्य-कारण-पूर्वचरोत्तरचर-सहचरास्तेषामुपलब्धयः षट् तथाहि—विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, विरुद्धकार्योपलब्धिः, विरुद्धकारणोपलब्धिः, विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिः, विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिः, विरुद्धसहचरोपलब्धिश्चेति ॥ ८६ ॥

---

१. आत्राद्या क ।

विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—नास्त्यस्य पुंसः तत्त्वेषु निश्चयः, तत्र सन्देहात् ॥ ८७ ॥

अत्र प्रतिषेध्यः तत्त्वेषु निश्चयः तेन साक्षाद् विरुद्धोऽनिश्चयः तस्य व्याप्यः सन्देहः, तस्योपलब्धिरिति विरुद्धव्याप्तोलब्धिः ॥ ८७ ॥

विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—न विद्यतेऽस्य क्रोधाद्युपशान्तिः, वदनविकारादेः ॥ ८८ ॥

अत्र प्रतिषेध्यः क्रोधाद्युपशमः तद्विरुद्धश्चानुपशमः, तत्कार्यस्य ताम्रत्वादिस्वरूपस्य वदनविकारादेरुपलब्धिरिति विरुद्धकार्योपलब्धिः ॥ ८८ ॥

विरुद्धकारणोपलब्धिर्यथा—नास्य महर्षेरसत्यं वचः समस्ति, राग-द्वेषकालुष्याकलङ्कितज्ञानसम्पन्नत्वात् ॥ ८९ ॥

अत्र प्रतिषेध्यमसत्यं तद्विरुद्धं सत्यं तस्य कारणं राग-द्वेषकालुष्यैरकलङ्कितं ज्ञानं तस्योपलब्धिरिति विरुद्धकारणोपलब्धिः ॥ ८९ ॥

विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिर्यथा—नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते पुष्यतारा, रोहिण्युद्गमात् ॥ ९० ॥

अत्र प्रतिषेध्यो भविष्यत्पुष्यतारोदयः तद्विरुद्धो मृगशीर्षोदयः तस्य पूर्वचरो रोहिण्युदयः तस्योपलब्धिरिति विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिः ॥ ९० ॥

विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिर्यथा—नोदगान्मुहूर्तात् पूर्वं मृगशिरः, पूर्वफल्गुन्युदयात् ॥ ९१ ॥

---

१. तत्त्वेषु विनि° ख । २. रोहिण्युदयात् ख ।

३. पूर्वफाल्गु° कख ।

अत्र प्रतिषेध्यो मृगशीर्षोदयः तद्विरुद्धो मृगोदयः तदुत्तरचरः पूर्वफल्गुन्युदयः तस्योपलब्धिरिति विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिः ॥ ९१ ॥

विरुद्धसहचरोपलब्धिर्यथा—नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, सम्यग्दर्शनात् ॥ ९२ ॥

अत्र प्रतिषेध्यं मिथ्याज्ञानं तद्विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं तस्य सहचरं सम्यग्दर्शनं तस्योपलब्धिरिति विरुद्धसहचरोपलब्धिः ॥ ९२ ॥

अनुपलब्धेरपि द्वैरूप्यमविरुद्धानुपलब्धिर्विरुद्धानुपलब्धिश्च ॥ ९३ ॥

प्रतिषेध्येनार्थेन सहाविरुद्धस्यानुपलब्धिरविरुद्धानुपलब्धिः, प्रतिषेध्येन सह विरुद्धस्यानुपलब्धिर्विरुद्धानुपलब्धिरित्यनुपलब्धिरपि द्विप्रकारेत्यर्थः ॥ ९३ ॥

तत्राविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधावबोधे सप्तप्रकारा ॥ ९४ ॥

प्रतिषेध्येनाविरुद्धानां स्वभाव-व्यापक-कार्य-कारण-पूर्वचरोत्तरचर-सहचराणामनुपलब्धिः ॥ ९५ ॥

स्वाभावानुपलब्धिः, व्यापकानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, पूर्वचरानुपलब्धिः, उत्तरचरानुपलब्धिः, सहचरानुपलब्धिश्चेति सप्तप्रकाराऽविरुद्धानुपलब्धिर्ज्ञातव्या ॥ ९५ ॥

स्वभावानुपलब्धिर्यथा—नास्त्यत्र भूतले कुम्भः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भात् ॥ ९६ ॥

उपलब्धिः—ज्ञानम् । उपलब्धिर्लक्ष्यते—जन्यते एभिरित्युपलब्धिलक्षणानि—ज्ञानकारणानि, तानि प्राप्तः—जनकत्वेन ज्ञानकारणान्तर्भावाद्

पलब्धिलक्षणं प्राप्तः—दृश्य इति यावत् । एवंभूतस्य तत्स्वभावस्य—तत्स्वभावस्य अनुपलम्भात्—उपलम्भाभावात् ।

अत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्येति विशेषणं पिशाचादौ व्यभिचार-रणार्थं पिशाचादयो नोपलब्धिलक्षणं प्राप्ताः, अतस्तेषां निषेधोऽपि न तुं शक्यते । अत्र प्रतिषेध्यस्य कुम्भस्य य उपलब्धिलक्षणप्राप्तरूपः, वभावस्तस्यानुपलब्धिरिति स्वभावानुपलब्धिः ॥ ९६ ॥

व्यापकानुपलब्धिर्यथा—नास्त्यत्र प्रदेशे पनसः, पादपानुपलब्धेः ॥ ९७ ॥

अत्र प्रतिषेध्यं पनसत्वं तद्व्यापकं पादपत्वं तस्यानुपलब्धिरिति व्यापकानुपलब्धिः ॥ ९७ ॥

कार्यानुपलब्धिर्यथा—नास्त्यत्राप्रतिहतशक्तिकं बीजमङ्कुरानवलोकनात् ॥ ९८ ॥

अत्र प्रतिषेध्यं अप्रतिहतशक्तिविशिष्टं बीजं तत्कार्यमङ्कुरं तस्यानुपलब्धिरिति कार्यानुपलब्धिः ॥ ९८ ॥

कारणानुपलब्धिर्यथा—न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावाः, तत्त्वार्थश्रद्धानाभावात् ॥ ९९ ॥

अत्र प्रतिषेध्यं प्रशमप्रभृतयो भावाः—प्रशम-संवेग-निर्वेदानुकम्पा-ऽऽस्तिक्यस्वरूपात्मपरिणामविशेषाः, तत्कारणं, तत्त्वार्थश्रद्धानं—सम्यग्दर्शनं तस्यानुपलब्धिरिति कारणानुपलब्धिः । एवं नास्त्यत्र धूमो वह्न्यभावाद्, इत्यादीन्यप्युदाहरणानि ज्ञातव्यानि ॥ ९९ ॥

---

१. °मङ्कूरा° ख ।

पूर्वचरानुपलब्धिर्यथा—नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिनक्षत्रं, चित्रोदयादर्शनात् ॥ १०० ॥

अत्र प्रतिषेध्यः स्वात्युदयः तत्पूर्वचरश्चित्रोदयस्तस्यानुपलब्धिरिति पूर्वचरानुपलब्धिः ॥ १०० ॥

उत्तरचरानुपलब्धिर्यथा—नोदगमत् पूर्वभद्रपदा मुहूर्तात् पूर्वम्, उत्तरभद्रपदोद्गमानवगमात् ॥ १०१ ॥

अत्र प्रतिषेध्यः पूर्वभद्रपदोदयः तदुत्तरचरं उत्तरभद्रपदोदयः तस्यानुपलब्धिरित्युत्तरचरानुपलब्धिः ॥ १०१ ॥

सहचरानुपलब्धिर्यथा—नास्त्यस्य सम्यग्ज्ञानं, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः ॥ १०२ ॥

अत्र प्रतिषेध्यं सम्यग्ज्ञानं तत्सहचरं सम्यग्दर्शनं तस्यानुपलब्धिरिति सहचरानुपलब्धिः ॥ १०२ ॥

विरुद्धानुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पञ्चधा ॥ १०३ ॥

विधिस्वरूपे साध्ये विरुद्धानुपलब्धिः पञ्चप्रकारेत्यर्थः ॥ १०३ ॥

विरुद्धकार्य-कारण स्वभाव-व्यापक-सहचरानुपलम्भभेदात् ॥ १०४ ॥

विधेयेनार्थेन सह विरुद्धा ये कार्य-कारण-स्वभाव-व्यापक-सहचराः तेषामनुपलम्भभेदाद् विरुद्धकार्यानुपलब्धिः, विरुद्धकारणानु-

१. °स्वभाव° ख ।

लब्धिः, विरुद्धस्वभावानुपलब्धिः, विरुद्धव्यापकानुपलब्धिः, विरुद्धसह-चरानुपलब्धिश्चेति पञ्चप्रकारेत्यर्थः ॥ १०४ ॥

विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्यथा—अत्र शरीरिणि रोगातिशयः समस्ति, नीरोगव्यापारानुपलब्धेः ॥ १०५ ॥

अत्र विधेयो रोगातिशयः तद्विरुद्धमारोग्यं तस्य कार्यं व्यापार-विशेषस्तस्यानुपलब्धिरिति विरुद्धकार्यानुपलब्धिः ॥ १०५ ॥

विरुद्धकारणानुपलब्धिर्यथा—विद्यतेऽत्र प्राणिनि कष्टम्, इष्टसंयोगाभावात् ॥ १०६ ॥

अत्र विधेयं कष्टं तद्विरुद्धं सुखं तस्य कारणमिष्टसंयोगस्तस्यानु-पलब्धिरिति विरुद्धकारणानुपलब्धिः ॥ १०६ ॥

विरुद्धस्वभावानुपलब्धिर्यथा—वस्तुजातमनेकान्तात्मकम्, एकान्तस्वभावानुपलम्भात् ॥ १०७ ॥

अत्र विधेयं अनेकान्तात्मकं तद्विरुद्धमेकान्तात्मकं तत्स्वभावस्या-नुपलब्धिरिति विरुद्धस्वभावानुपलब्धिः ॥ १०७ ॥

विरुद्धव्यापकानुपलब्धिर्यथा—अस्त्यत्र छाया, औष्ण्यानुपलब्धेः ॥ १०८ ॥

अत्र विधेया छाया तद्विरुद्धस्तापः तस्य व्यापकमौष्ण्यं तस्या-नुपलब्धिरिति विरुद्धव्यापकानुपलब्धिः ॥ १०८ ॥

विरुद्धसहचरानुपलब्धिर्यथा—अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः॥ १०९॥

अत्र विधेयं मिथ्याज्ञानं तद्विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं तत्सहचरं सम्यग्दर्शनं तस्यानुपलब्धिरिति विरुद्धसहचरानुपलब्धिः॥ १०९॥

इति बालबोधिन्याख्यया टिप्पण्या विभूषिते श्रीवादिदेवसूरिसंदृब्धे प्रमाणनयतत्त्वालोके प्रत्यक्षस्वरूपनिर्णायको तृतीयः परिच्छेदः।

---

१. नुपलम्भात् ख।

चतुर्थः परिच्छेदः ।

आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ॥ १ ॥

आप्तः—यथार्थवक्ता तस्य वचनादाविर्भूतमुत्पन्नं यदर्थसंवेदनं—पदार्थज्ञानं तदागमशब्दाभिधेयमित्यर्थः ॥ १ ॥

उपचारादाप्तवचनं च ॥ २ ॥

ननु यदि आप्तवचनादुत्पन्नं ज्ञानमागमशब्देनाभिधीयते तर्हि आप्तवचने कथमागमशब्दप्रयोगः ? इत्याशङ्क्याहुः—उपचारादिति ।

अयं भावः प्रतिपाद्यगतज्ञानस्य कारणमाप्तवचनमिति कारणे आप्तवचने कार्योपचाराद् आप्तवचनेऽपि आगमशब्दप्रयोगः ॥ २ ॥

समस्त्यत्र प्रदेशे रत्ननिधानं, सन्ति रत्नसानुप्रभृतयः ॥ ३ ॥

"समस्त्यत्र प्रदेशे रत्ननिधानम्" इत्यनेन लौकिकानां जनकादीनामाप्तत्वं प्रदर्शितं, "सन्ति रत्नसानुप्रभृतयः" इत्यनेन तु लोकोत्तराणां तीर्थकरादीनामाप्तत्वं निरूपितम् ॥ ३ ॥

अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः ॥ ४ ॥

तस्य हि वचनमविसंवादि भवति ॥ ५ ॥

---

१. यस्य क ।

हि—यस्मात् तस्य आप्तस्य वचनमविसंवादि—सफलप्रवृत्तिजनकं भवति तस्मात् स आप्त इति भावः ॥ ५ ॥

स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्च ॥ ६ ॥

लौकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः ॥ ७ ॥

अत्राऽऽहुर्मीमांसकाः—नहि पौरुषेयस्याऽऽगमस्य प्रामाण्यं भवितुमर्हति, भ्रमप्रमादादिदोषसुलभत्वात् पुरुषस्य, न च स्वर्गाद्यतीन्द्रियवस्तुदर्शित्वं कस्यापि सम्भवति येन तदंशे तद्वचनस्य प्रामाण्यं भवेत्, तस्मादपौरुषेयो वेद एवागमप्रमाणत्वेनाङ्गीकरणीयः, न च वेदेऽपौरुषेयत्वमसिद्धं, 'वेदोऽपौरुषेयः संप्रदायाऽव्यवच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इत्यनुमानेन तत्र तस्य सिद्धत्वादिति ।

तदतितुच्छम्, द्वितीयपरिच्छेदे सर्वथा दोषासंस्पृष्टस्य सकलार्थदर्शिनः पुरुषधौरेयस्य सर्वज्ञस्य प्रसाधितत्वात्, तद्वचनप्रामाण्ये बाधकाभावात्।यदुक्तं -"अपौरुषेयो वेद एव आगमप्रमाणत्वेनाङ्गीकरणीयः" इति तदपि न युक्तम्, वेदस्य वर्णात्मकत्वात्, वर्णानां पुरुषप्रयत्नजन्यत्वाद् भारतादिवत् पौरुषेयत्वमेव सिध्यति । न च पुरुषप्रयत्नमन्तरोत्पद्यमानो वर्णात्मकः शब्दः केनचित् कुत्राप्युपलब्धः ।

यत् तु "संप्रदायाऽव्यवच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्" इति हेतुरपौरुषेयत्वसाधकत्वेनोपन्यस्तः सोऽपि विशेष्यासिद्धिदोषदुष्टत्वान्न स्वसाध्यसाधनायाऽलं, वैदिकैरेव नैयायिकादिभिर्वेदस्य ईश्वरकर्तृकत्वेन स्मरणात् । विशेषणं च संदिग्धासिद्धं, तथाहि—आदिमतामपि

१. °त्तरस्तीर्थ° ख ।

प्रासादादीनां संप्रदायो व्यवच्छिद्यमानो दृष्टः, अनादेस्तु वेदस्य नाद्यापि संप्रदायव्यवच्छेदो जात इति कथमिव विश्वसनीयं भवेत्? ।

"प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्, तत्र त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त" "प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" इत्याद्यागमेनापि वेदस्य पौरुषेयत्वमेव प्रतीयते, इति न कथमपि वेदस्याऽपौरुषेयत्वं सिद्धिपथमायाति नतरां प्रामाण्यमिति ॥ ७ ॥

वर्ण-पद-वाक्यात्मकं वचनम् ॥ ८ ॥

अकारादिः पौद्गलिको वर्णः ॥ ९ ॥

पुद्गलैः—भाषावर्गणापरमाणुभिरारब्धः पौद्गलिकः । एतेन वर्णनित्यत्ववादिनो **मीमांसकाः**, गगनगुणत्ववादिनो **नैयायिकाश्च** निरस्ता वेदितव्याः, तथाहि—वर्णानामुत्पत्ति-विनाशयोः प्रत्यक्षेण वीक्ष्यमाणत्वान्नित्यत्वं न सम्भवति, न च 'सोऽयं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञाबलाद् वर्णानां नित्यत्वं सिध्यति, अस्याः प्रत्यभिज्ञायाः 'सेयं दीपज्वाला' 'तदेवेदमौषधम्' इत्यादिवत् सजातीयविषयत्वेन भ्रान्तत्वात् । एवं 'शब्दो न गगनगुणः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद् रूपादिवत्' इत्यनुमानबाधितत्वाद् गगनगुणत्वमपि न सिध्यति, तस्माद् द्रव्यरूपेण नित्यत्वात् पर्यायरूपेण चानित्यत्वाच्छब्दस्य नित्यानित्यत्वमेवावगन्तव्यम् ।

पौद्गलिकत्वं चास्य 'वर्णः पौद्गलिकः मूर्तिमत्त्वात्, पृथिव्यादिवत्' इत्यनुमानसिद्धम्, न च मूर्तिमत्त्वमसिद्धं, स्पर्शवत्त्वेन हेतुना तत्र तस्य सिद्धत्वात्, न च स्पर्शवत्त्वमपि शब्दस्याऽसिद्धं, कर्णशष्कुल्यां स्पर्शस्यानुभूयमानत्वात् तस्य स्पर्शवत्त्वासिद्धेः, अन्यथा कथमिवोत्कटशब्द-

श्रवणेन बालकादीनां कर्णोपघातो भवेत्? भवति चायं कर्णोपघातः, तस्मात् शब्दस्य स्पर्शवत्त्वं नाऽसिद्धं, सिद्धे च स्पर्शवत्त्वे शब्दस्य मूर्तिमत्त्वसिद्धिः, तेन च पौद्गलिकत्वसिद्धिरिति दिक् ॥ ९ ॥

वर्णानामन्योऽन्यापेक्षाणां निरपेक्षा संहतिः पदं, पदानां तु वाक्यम् ॥ १० ॥

वर्णानामकारादीनां, अन्योऽन्यापेक्षाणां—पदार्थप्रतिपत्तौ परस्परसहकारितया वर्तमानानाम्, निरपेक्षा-पदान्तरवर्तिवर्णनिरपेक्षा-संहतिः—संघातः पदमभिधीयते । एवमेव पदानां वाक्यार्थप्रतिपत्तौ परस्परसहकारितया स्थितानां वाक्यान्तरवर्तिपदनिरपेक्षा संहतिः वाक्यमित्युच्यते ॥ १० ॥

स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः ॥ ११ ॥

स्वाभाविकसामर्थ्यं—शब्दस्यार्थप्रतिपादिका शक्तिः, समयः—संकेतः, ताभ्यां कृत्वा अर्थज्ञानस्य कारणं शब्द इति ।

अयं भावः——यद्यपि अर्थप्रतिपादने शब्दस्य स्वाभाविकं सामर्थ्यमस्ति तथापि सहकारित्वेन संकेतमपेक्षते, अन्यथा अज्ञातसंकेतस्यापि पुंसः शब्दश्रवणमात्रेणार्थोपस्थितिः स्यात्, न चैवं दृश्यते । ननु तर्हि संकेतेनैव शब्दस्यार्थबोधकत्वमङ्गीक्रियतां किमर्थं तत्र स्वाभाविकसामर्थ्यं स्वीक्रियते? इति चेद्, उच्यते—संकेतस्य पुरुषेच्छाधीनत्वात् कदाचित् 'शब्दोऽपि वाच्यः, अर्थोऽपि वाचकः' इति विपरीतमपि स्यात्, सामर्थ्येऽङ्गीक्रियमाणे तु नैवं भवितुमर्हति, तस्मात् सामर्थ्य-संकेताभ्यां शब्दस्यार्थावबोधकत्वमङ्गीकरणीयमिति ॥ ११ ॥

अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं, प्रदीपवद्, यथार्थाऽयथार्थत्वे पुनः पुरुषगुण-दोषावनुसरतः ॥ १२ ॥

अर्थावबोधकत्वं स्वाभाविकमेव, यथार्थाऽयथार्थप्रतिपादकत्वं तु पुरुषगुण-दोषावनुसरतः । यदि पुरुषः सम्यग्दर्शी दयालुः सत्यवक्ता च तदा तत्प्रयुक्तः शब्दः यथार्थज्ञानं जनयति, अन्यथा तु अयथार्थज्ञानमुत्पादयतीति ॥ १२ ॥

सर्वत्रायं ध्वनिर्विधि-प्रतिषेधाभ्यां[1] स्वार्थमभिदधानः सप्तभङ्गीमनुगच्छति ॥ १३ ॥

अयं ध्वनिः—शब्दः, सर्वत्र विधिमुखेन निषेधमुखेन च, स्वार्थं—नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मकं वस्तु, अभिदधानः—प्रतिपादयन्, सप्तभङ्गीं—स्यादस्तीत्यादिवक्ष्यमाणप्रकारं सप्तधा प्रयोगमनुगच्छति ॥ १३ ॥

एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधि-निषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी ॥ १४ ॥

एकत्र—जीवाजीवादौ वस्तुनि, एकैकधर्मपर्यनुयोगवशात्—एकैकसत्त्वादिधर्मप्रश्नवशात्, अविरोधेन—प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण, व्यस्तयोः—पृथग्भूतयोः, समस्तयोः—समुदितयोश्च विधि-निषेधयोः कल्पनया—पर्यालोचनया कृत्वा, स्यात्काराङ्कितः—स्याच्छब्दलाञ्छितः, सप्तधा—सप्तप्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गी ज्ञातव्या ।

इदमत्राऽऽकूतम्—जीवाजीवात्मकं सर्वं हि वस्तुजातमनन्तधर्मात्म-

---

१. °विधिनिषेधाभ्यां ख ।

कमिति सिद्धान्तः । तत्रैकैकधर्ममवलम्ब्य सप्तविधप्रश्नवशात् सप्तधा-वाक्यं प्रवर्तते । उद्देश्य-विधेयात्मकं हि वाक्यं भवति, एवं च कस्मिंश्चिद् वस्तुनि कमपि धर्ममवलम्ब्योद्देश्य विधेयात्मकं सप्तधैव वचनविन्यासः प्रवर्तते, नाधिकं नाऽपि न्यूनं, तथाहि—घटे अस्तित्वधर्ममवलम्ब्य 'स्यादस्त्येव घटः' 'स्यान्नास्त्येव घटः' 'स्यादस्ति नास्ति च घटः' 'स्यादवक्तव्य एव घटः' 'स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घटः' 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घटः' 'स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च घटः' इति सप्त-भङ्गाः प्रवर्तन्ते ।

प्रश्नानां सप्तविधत्वं च प्रश्नकर्तुः सप्तविधजिज्ञासोदयात् । जिज्ञा-सायाः सप्तविधत्वं सप्तविधसंशयसमुद्भवात् । सन्देहस्यापि सप्तविधत्वं संदेहविषयीभूतधर्माणां कथञ्चिदस्तित्वादीनां सप्तविधत्वात् । तथाहि—कथञ्चिदस्तित्वं, कथञ्चिन्नास्तित्वं, कथञ्चित्क्रमार्पितोभयत्वं, कथञ्चिद-वक्तव्यत्वं, कथञ्चिदस्तित्वविशिष्टावक्तव्यत्वं, कथञ्चिन्नास्तित्वविशिष्टा-वक्तव्यत्वं, कथञ्चित्क्रमार्पितोभयविशिष्टावक्तव्यत्वमिति । एवं च वस्तुषु प्रतिपर्यायमवलम्ब्य सप्तविधसंशयविषयीभूतधर्माणां विद्यमानत्वाद् घटः स्यादस्ति न वा ? इति कथञ्चित्सत्त्वसर्वथासत्त्वरूपविरुद्धकोटिद्वयात्मकः संशयः समाविर्भवति, संशयेन च घटे वास्तविकसत्त्वनिर्णयार्थं जिज्ञा-सोत्पद्यते, ततो घटः किं स्यादस्त्येव ? इति प्रश्नः प्रवर्तते तादृशप्रश्न-वशात् प्रतिपादयितुः प्रतिपिपादयिषा जायते, ततः प्रतिपादयति, तथा च प्रश्नानां सप्तधैव प्रवर्तमानत्वादुत्तरस्यापि सप्तविधत्वमेव प्रपन्नं भवति ।

इयं सप्तभङ्गी प्रमाणसप्तभङ्गी-नयसप्तभङ्गीभेदेन द्विविधा । तत्र

प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा प्रमाणसप्तभङ्गी । प्रतिभङ्गं विकलाऽऽदेश-स्वभावा च नयसप्तभङ्गी । एकधर्मबोधनमुखेन अभेदवृत्त्या अभेदोपचाराद् वा तदात्मकानेकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं सकलादेशत्वम् । कुत्राऽभेदवृत्त्या प्रतिपादयति ? कुत्र चाभेदोपचारेण ? इति चेत्, उच्यते—द्रव्यार्थनयाङ्गीकारपक्षे सर्वपर्यायाणां द्रव्यात्मकत्वात् 'स्यादस्त्येव घटः' इति वाक्यमस्तित्वलक्षणैकधर्मप्रतिपादनद्वारा तदात्मकाशेषधर्मात्मकं वस्तु अभेदवृत्त्या प्रतिपादयति । पर्यायार्थनयस्वीकारपक्षे तु सर्वपर्यायाणां परस्परभिन्नत्वाद् एकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने सामर्थ्याऽभावादभेदोपचारेणानन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रतिपादयति । अभेदवृत्तेरभेदोपचारस्याऽनाश्रयणे एकधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकं वाक्यं विकलादेश इति ॥ १४ ॥

तद्यथा—स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः ॥ १५ ॥

अत्र स्यात्पदमनेकान्तबोधकम्, 'अस्त्येव सर्वं कुम्भादि, इत्युक्ते स्वरूपेणास्तित्वमिव पररूपेणाप्यस्तित्वं प्राप्नोति, तद्व्यावृत्त्यर्थं स्यात्पदं, तेन च स्यात्-कथञ्चित्स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैरेव कुम्भोऽस्ति, न परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैरित्यर्थो लभ्यते । तथाहि—कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनास्ति नाऽऽबादित्वेन, देशतः पाटलिपुत्रत्वेनास्ति न कान्यकुब्जत्वेन, कालतः वासन्तिकत्वेनास्ति न शैशिरत्वेन, भावतः श्यामत्वेनास्ति न रक्तत्वेन ।

'स्यादस्त्येव सर्वम्' इत्यत्र स्वरूपादिभिरस्तित्वमिव स्वरूपादिभिरेव नास्तित्वमपि स्यात् तद्व्यावृत्त्यर्थमेवकारग्रहणं, तेन चायमर्थो

लभ्यते—यत् स्वरूपादिभिरस्त्येव सर्वं वस्तु न तु नास्त्यपि, पररूपादिभिर्नास्तित्वं तु इष्टमेव ।

एवकारस्त्रिधा—अयोगव्यच्छेदकः, अन्ययोगव्यवच्छेदकः, अत्यन्तायोगव्यवच्छेदकश्च । तत्र विशेषणसंगतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदकः । अयोगव्यवच्छेदकत्वं नाम—उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाऽत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं, यथा 'शङ्खः पाण्डुर एव' इत्यत्रोद्देश्यतावच्छेदकं शङ्खत्वं, तत्समानाधिकरणात्यन्ताभावो न तावत्पाण्डुरत्वात्यन्ताभावोऽपि तु पीतत्वाद्यत्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगित्वं पीतत्वादौ, अप्रतियोगित्वं पाण्डुरत्वे वर्तत इति लक्षणसमन्वयः । विशेष्यसंगतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः, अन्ययोगव्यवच्छेदकत्वं च विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेदः, यथा—'पार्थ एव धनुर्धरः, अत्र पार्थान्यतादात्म्याभावो धनुर्धरे एवकारेण बोध्यते । क्रिया संगतैवकारश्चात्यन्तायोगव्यवच्छेदकः । अत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदकत्वं नाम—उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकाभावाप्रतियोगित्वं, यथा—'नीलं सरोजं भवत्येव' इत्यत्र उद्देश्यतावच्छेदकं सरोजत्वं तद्व्यापकोऽत्यन्ताभावो नहि नीलाऽभेदाऽभावोऽपि तु पटाऽभेदाऽभावः, तत्प्रतियोगित्वं पटाऽभेदे, अप्रतियोगित्वं नीलाऽभेदे वर्तत इति लक्षणसमन्वयः ।

ननु 'स्यादस्त्येव सर्वम्' इत्यादौ एवकारस्य क्रियासंगत्वादत्यन्तायोगव्यवच्छेदेन भवितव्यं, तथा सति विवक्षिताऽर्थासिद्धिः स्यात्, कस्मिंश्चिद् घटे अस्तित्वस्याभावेऽपि 'स्यादस्त्येव घटः' इत्याकारकप्रयोगसम्भवात्, यथा कस्मिंश्चित् सरोजे नीलत्वाऽभावेऽपि 'नीलं

सरोजं भवत्येव' इत्याकारकप्रयोग इति चेत्, न, *राद्धान्तेऽत्रायोगव्यवच्छेदकस्यैवकारस्य स्वीकृतत्वात्, क्रियासंगतैवकारोऽपि कचिदयोगव्यवच्छेदबोधको भवति, यथा—'ज्ञानमर्थं गृह्णात्येव' इत्यत्र ज्ञानत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्य अर्थग्राहकत्वे बोधः। एवं 'स्यादस्त्येव घटः' इत्यादिष्वपि अयोगव्यवच्छेदक एव एवकारो बोद्धव्यः।

यद्यपि राद्धान्ते सत्त्वमिवाऽसत्त्वमपि घटस्य स्वरूपमेव, तथापि 'स्यादस्त्येव घटः' इत्यत्र सत्त्वस्य प्राधान्येन भानम्, असत्त्वस्य चाप्राधान्येन। एवं द्वितीयभङ्गे नास्तित्वस्य प्राधान्येन अस्तित्वस्य चाप्राधान्येन भानम्। एवमन्यभङ्गेष्वपि ज्ञातव्यम्॥ १५॥

स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः॥ १६॥

'परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः कथञ्चिन्नास्त्येव कुम्भादिः' इति निषेधकल्पनया द्वितीयो भङ्गः॥ १६॥

स्यादस्त्येव नास्त्येवेति क्रमतो विधि-निषेधकल्पनया तृतीयः॥ १७॥

यदा वस्तुगतास्तित्व-नास्तित्वधर्मौ क्रमेण विवक्षितौ तदा 'स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव' इति तृतीयो भङ्गः॥ १७॥

स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधि-निषेधकल्पनया चतुर्थः॥ १८॥

---

* सिद्धान्ते। प्रकृते तु जैनसिद्धान्ते इति बोध्यम्। सं०

यदा अस्तित्व-नास्तित्वधर्मौ युगपत्प्रधानभावेन विवक्षितौ, तदा तादृशयुगपद्धर्मद्वयबोधकशब्दाभावादवक्तव्यमेवेति चतुर्थो भङ्गः ॥१८॥

स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधि-निषेधकल्पनया च पञ्चमः ॥ १९ ॥

स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयाऽस्तित्वे सति अस्तित्व-नास्तित्वाभ्यां यौगपद्येन वक्तुमशक्यं सर्वं वस्तु, इति स्यादस्तित्वविशिष्टस्यादवक्तव्यमेवेति पञ्चमो भङ्गः ॥ १९ ॥

स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया, युगपद्विधि-निषेधकल्पनया च षष्ठः ॥ २० ॥

परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया नास्तित्वे सति अस्तित्व-नास्तित्वाभ्यां यौगपद्येन वक्तुमशक्यं सर्वं वस्तु, इति स्यान्नास्तित्वविशिष्टस्यादवक्तव्यमेवेति षष्ठो भङ्गः ॥ २० ॥

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधि-निषेधकल्पनया, युगपद्विधि-निषेधकल्पनया च सप्तम इति[1] ॥ २१ ॥

क्रमतः स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयाऽस्तित्वे सति परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया नास्तित्वे च सति यौगपद्येनास्तित्व-नास्तित्वाभ्यां वक्तुमशक्यं सर्वं वस्तु, इति सप्तमो भङ्गः ॥ २१ ॥

विधिप्रधान एव ध्वनिरिति न साधु ॥ २२ ॥

---

१. सप्तमः । 'इति' पदं नास्ति क ।

'शब्दः प्राधान्येन विधिमेवाभिधत्ते न निषेधम्' इति कथनं न युक्तमित्यर्थः ॥ २२ ॥

अत्र हेतुमाहुः—

निषेधस्य तस्मादप्रतिपत्तिप्रसक्तेः ॥ २३ ॥

शब्दो यदि एकान्तेन विधिबोधक एव भवेत् तर्हि तस्माद् निषेधस्य ज्ञानं कदापि न स्यात्, निषेधज्ञानं तु अनुभवसिद्धं, तस्मान्न विधिबोधक एव शब्दः किन्तु निषेधबोधकोऽपीति भावः ॥ २३ ॥

अप्राधान्येनैव ध्वनिस्तमभिधत्त इत्यप्यसारम् ॥ २४ ॥

ननु भवतु शब्दो निषेधबोधकोऽपि तथाऽपि अप्रधानभावेनैव तमभिधत्ते इति चेत्, तदप्यसारम् ॥ २४ ॥

अत्र कारणमाहुः—

क्वचित् कदाचित् कथञ्चित् प्राधान्येनाप्रतिपन्नस्य तस्याप्राधान्यानुपपत्तेः ॥ २५ ॥

निषेधस्य कुत्रचित् प्राधान्येन भानाभावेऽन्यत्राप्राधान्येन भानं न भवितुमर्हति तस्मात् शब्दः कुत्रचित् प्राधान्येनापि निषेधमभिधत्ते इत्यङ्गीकरणीयम् ॥ २५ ॥

निषेधप्रधान एव शब्द इत्यपि प्रागुक्तन्यायादपास्तम् ॥ २६ ॥

शब्दो यदि प्रधानभावेन निषेधमेवाभिदध्यात् तर्हि विधिबोधको न स्यात्, अप्रधानभावेन विधिं बोधयतीति चेत्, कुत्रचित् प्रधान-

भावेन बोधकत्वमन्तराऽन्यत्राप्रधानभावेन बोधकत्वासम्भवात्, तस्माद् निषेधप्रधान एव शब्दः' इति एकान्तोऽपि न समीचीन इति भावः ॥ २६ ॥

क्रमादुभयप्रधान एवायमित्यपि न साधीयः ॥ २७ ॥

अयं शब्दः 'स्यादस्त्येव घटः स्यान्नास्त्येव घटः' इत्याकारकं क्रमार्पितोभयमेवाभिधत्ते इत्यपि न साधु ॥ २७ ॥

अस्य विधि-निषेधान्यतरप्रधानत्वानुभवस्याप्यबाध्यमानत्वात् ॥ २८ ॥

अस्य—शब्दस्य विधिप्राधान्येन निषेधप्राधान्येन च स्वातन्त्र्येणानुभूयमानत्वात् 'क्रमादुभयप्रधान एवायम्' इति तृतीयभङ्गैकान्तोऽपि न कान्तः ॥ २८ ॥

युगपद्विधि-निषेधात्मनोऽर्थस्यावाचक एवासाविति *वचो न चतुरस्रम् ॥ २९ ॥

असौ शब्दो विधिरूपमर्थं निषेधरूपमर्थं च युगपत्प्राधान्येन प्रतिपादयितुं न समर्थ इत्यर्थकः 'स्यादवक्तव्यमेव' इति चतुर्थभङ्गैकान्तोऽपि न रमणीयः ॥ २९ ॥

---

* अत्र यद्यपि स्याद्वादरत्नाकरावतारिकानुसारेणैव सूत्राणि मुद्रितानि, स्याद्वादरत्नाकरावतारिकायां च '*च न चतुरस्रम्' इति पाठो वर्तते, तथाऽपि अन्यमुद्रितपुस्तके, हस्तलिखितपुस्तके च 'वचो न चतुरस्रम्' इत्येव पाठो दृश्यते, अस्माकमप्ययमेव पाठः श्रेयान् प्रतिभाति, तस्माद् 'वचो न चतुरस्रम्' इति पाठ एव स्वीकृतोऽत्रास्माभिः। सं०—मुनिहिमांशुविजयः।

तस्याऽवक्तव्यशब्देनाप्यवाच्यत्वप्रसङ्गात् ॥ ३० ॥

अयमर्थः— चतुर्थभङ्गैकान्ते हि शब्दस्याऽवक्तव्यशब्देनाऽप्यवाच्यत्वं स्यात्, तस्माच्चतुर्थभङ्गैकान्तोऽपि न युक्तः ॥ ३० ॥

विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचकः सन्नुभयात्मनो युगपदवाचक एव स इत्येकान्तोऽपि न कान्तः ॥ ३१ ॥

'स्यादस्ति चावक्तव्यश्चेतिभङ्गस्वरूप एव शब्दः' इत्येकान्तोऽपि न युक्त इति ॥ ३१ ॥

अत्र निमित्तमाहुः—

निषेधात्मनः सह द्वयात्मनश्चार्थस्य वाचकत्वावाचकत्वाभ्यामपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् ॥ ३२ ॥

'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च' इति षष्ठभङ्गे निषेधात्मनोऽर्थस्य वाचकत्वेन सह युगपत् प्रधानभावेन विधि-निषेधात्मनोऽर्थस्यावाचकश्च शब्दः प्रतीयते तस्मात् पञ्चमभङ्गैकान्तोऽपि न समीचीनः ॥ ३२ ॥

निषेधात्मनोऽर्थस्य वाचक सन्नुभयात्मनो युगपदवाचक एवायमित्यप्यवधारणं न रमणीयम् ॥ ३३ ॥

'कथञ्चिन्नास्तित्वविशिष्टकथञ्चिदवक्तव्यस्वभावस्य वस्तुन एव वाचकः शब्दः' इति षष्ठभङ्गैकान्तोऽपि न रमणीय इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अत्र हेतुं प्रदर्शयन्ति—

इतरथाऽपि संवेदनात् ॥ ३४ ॥

प्रथमभङ्गादिषु विध्यादिप्राधान्येनापि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् षष्ठभङ्गैकान्तोऽपि न समीचीन इति भावः ॥ ३४ ॥

**क्रमाक्रमाभ्यामुभयस्वभावस्य भावस्य वाचकश्चा-
वाचकश्च ध्वनिर्नान्यथेत्यपि मिथ्या ॥३५॥**

'क्रमार्पितोभयत्वविशिष्टावक्तव्यत्वस्वभावस्य वस्तुन एव वाचकः शब्दः' इत्यपि मिथ्या ॥ ३५ ॥

अत्र बीजमाख्यान्ति—

विधिमात्रादिप्रधानतयापि तस्य प्रसिद्धेः ॥ ३६ ॥

'स्यादस्त्येव घटः' 'स्यान्नास्त्येव घटः' इति विध्यादिप्राधान्येनापि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् सप्तमभङ्गैकान्तोऽपि न युक्त इत्यर्थः ॥३६॥

**एकत्र वस्तुनि विधीयमान-निषिध्यमानानन्तधर्माभ्यु-
पगमेनानन्तभङ्गीप्रसंगादसंगतैव सप्तभङ्गीति[1]
न चेतसि निधेयम् ॥ ३७ ॥**

एकस्मिन् जीवादौ वस्तुनि अनन्तानां विधीयमान-निषिध्यमान-धर्माणां स्वीकृतत्वादनन्ता एव तत्प्रतिपादकवचनमार्गाः स्युः कथं सप्तैव भङ्गाः ? इति मनसि न करणीयम् ॥ ३७ ॥

---

१. °ति चेतसि न नि° ख ।

अत्र कारणमाहुः—

विधि-निषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव सम्भवात् ॥ ३८ ॥

प्रतिपर्यायमवलम्ब्य वस्तुनि सप्तैव भङ्गाः सम्भवन्ति नाऽनन्ताः, सप्तभङ्गीनामानन्त्यं तु इष्टमेवेति न दोषः, इति भावः ॥ ३८ ॥

कुतः प्रतिपर्यायमवलम्ब्य सप्तैव भङ्गाः सम्भवन्ति ? इत्यत आहुः—

प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवात् ॥ ३९ ॥

प्रतिपर्यायमाश्रित्य सप्तानामेव शिष्यप्रश्नानां सम्भवादुत्तरमपि सप्तभङ्गात्मकमिति भावः ॥ ३९ ॥

प्रश्नानां सप्तविधत्वे हेतुं प्रदर्शयन्ति—

तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात् ॥४०॥

प्रतिपाद्यगतजिज्ञासायाः सप्तविधत्वात् प्रश्नानामपि सप्तत्वमित्यर्थः ॥ ४० ॥

तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्सन्देहसमुत्पादात् ॥ ४१ ॥

तस्याः—जिज्ञासाया अपि सप्तविधत्वं प्रतिपाद्यगतसंदेहस्य सप्तविधत्वात् ॥ ४१ ॥

तस्यापि सप्तप्रकारकत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेः ॥ ४२ ॥

तस्य–सन्देहस्याऽपि सप्तविधत्वं सन्देहविषयीभूतवस्तुधर्माणां कथञ्चिदस्तित्वादीनां सप्तविधत्वादित्यर्थः ॥ ४२ ॥

इयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं [1]सकलादेशस्व[2]भावा विकलादेशस्वभावा च ॥ ४३ ॥

प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद् वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः ॥ ४४ ॥

यौगपद्येनानन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रतिपादयति सकलादेशः ।

अयमर्थः—सकलादेशत्वेन विवक्षितं 'स्यादस्त्येव घटः' इदं वाक्यं न केवलमस्तित्वधर्मविशिष्टं घटं बोधयति किन्तु अनन्तधर्मात्मकं घटं प्रकाशयति । ननु कथमस्तित्वधर्मविशिष्टवस्तुबोधकमिदं वाक्यमनन्तधर्मात्मकवस्तुबोधकम् ? इति चेत्, उच्यते—सर्वधर्माणामस्तित्वात्मकत्वाद् एकधर्मविशिष्टवस्तुप्रतिपादनद्वारा इदं वाक्यं अनन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रतिपादयति । ननु सर्वधर्माणामस्तित्वात्मकत्वं न सम्भवति, परस्परभिन्नत्वात् सर्वधर्माणामिति चेत्, न, कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद् वा अस्तित्वाख्यस्य धर्मस्यानन्तधर्मात्मकत्वोपपत्तेः, तथाहि —यदा कालादिभिरष्टाभिः कृत्वा अभेदवृत्तेः—धर्म-धर्मिणोरभेदस्य प्राधान्यमङ्गीक्रियते तदा कालादिभिः समस्तधर्माणां तादात्म्येनावस्थि-

---

१. सकलाऽऽदेश-विकलाऽऽदेशयोर्विषये स्वरूपादिकमग्रिमसूत्रे पश्यत ।—संशोधकः । २. °स्वभाया वा वि. क ।

तत्वात् 'स्यादस्त्येव घटः' इतिवाक्यमेकधर्मविशिष्टवस्तुप्रतिपादनमुखेन यौगपद्येनानन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रतिपादयति। के पुनः कालादयः? इति चेत्, उच्यते–कालः, आत्मरूपम्, अर्थः, सम्बन्धः, उपकारः, गुणिदेशः, संसर्गः, शब्दश्चेत्यष्टौ।

तत्र 'स्यादस्त्येव घटः' इत्यत्र घटादौ यत्कालावच्छेदेनास्तित्वं वर्तते तत्कालावच्छेदेन शेषा अनन्तधर्मा अपि तत्र वर्तन्ते इति कालेनाऽभेदवृत्तिः। यदेवास्तित्वस्य घटगुणत्वमात्मरूपं–स्वरूपं तदेवान्यसर्वगुणानामिति आत्मरूपेणाभेदवृत्तिः। य एव च घटद्रव्यरूपोऽर्थोऽस्तित्वस्याऽऽधारः स एवान्यपर्यायाणामपीत्यर्थेनाऽभेदवृत्तिः। य एव चाविनाभावः कथञ्चित्तादात्म्यस्वरूपोऽस्तित्वस्य सम्बन्धः स एवानन्तधर्माणामपीति सम्बन्धेनाऽभेदवृत्तिः। य एव चोपकारोऽस्तित्वस्य स्वानुरक्तत्वकरणं–स्ववैशिष्ट्यसम्पादनं–स्वप्रकारकधर्मिविशेष्यकज्ञानजनकत्वपर्यवसन्नं, (अस्तित्वस्य स्वानुरक्तत्वकरणं हि अस्तित्वप्रकारकघटविशेष्यकज्ञानजनकत्वम्) स एवोपकारोऽनन्तधर्माणामपीति उपकारेणाभेदवृत्तिः। य एव गुणिनः संबन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्यधर्माणामपीति गुणिदेशेनाऽभेदवृत्तिः। य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवाऽपरधर्माणामपीति संसर्गेणाभेदवृत्तिः। ननु सम्बन्धसंसर्गयोः को विशेषः? इति चेद्, उच्यते–द्रव्य-पर्याययोः कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नत्वापरपर्यायकथञ्चित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः संसर्गश्च। तत्र यदा अभेदस्य प्राधान्यं भेदस्य च गौणत्वं विवक्ष्यते तदा सम्बन्धः। यदा तु भेदस्य प्राधान्यमभेदस्य च गौणत्वं विवक्ष्यते तदा संसर्ग इत्युच्यते। य एवास्तीतिशब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स

एव अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनो वाचक इति शब्देनाभेदवृत्तिः ।

एवं कालादिभिरष्टविधाभेदवृत्तिः पर्यायार्थिकनयस्य गुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यादुपपद्यते । द्रव्यार्थिकनयगुणभावे पर्यायार्थिकनयप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवतीति कालादिभिर्भिन्नानाममपि गुणानामभेदोपचारः क्रियते इति । एवं कालादिभिरभेदवृत्त्या अभेदापचारेण वा यौगपद्येनानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपादकं वाक्यं सकलादेश इत्युच्यत इति ॥ ४४ ॥

तद्विपरीतस्तु विकलादेशः ॥ ४५ ॥

नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य यदा कालादिभिर्भेदविवक्षा क्रियते तदा एकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रतिपादने सामर्थ्याभावाद् भेदवृत्त्या भेदोपचारेण वा क्रमेण यदभिधायकं वाक्यं स विकलादेश इत्यर्थः ॥४५॥

तद् द्विभेदमपि प्रमाणमात्मीयप्रतिबन्धकापगमविशेषस्वरूपसामर्थ्यतः प्रतिनियतमर्थमवद्योतयति ॥ ४६ ॥

पूर्वोक्तं प्रत्यक्ष-परोक्षभेदेन द्विविधमपि प्रमाणं स्वकीयप्रतिबन्धकानां ज्ञानावरणीयादिकर्मभेदानां यः क्षयः क्षयोपशमश्च तद्रूपं यत् सामर्थ्यं—योग्यता, तद्वशाद् घट-पटादिकं प्रतिनियतं वस्तु व्यवस्थापयति । एतेन ज्ञानं हि तदुत्पत्ति-तदाकारताभ्यां प्रतिनियतवस्तु व्यवस्थापयतीति सुगतराद्धान्तो निरस्तो वेदितव्यः ॥ ४६ ॥

न तदुत्पत्ति-तदाकारताभ्यां, तयोः पार्थक्येन सामस्त्येन च व्यभिचारोपलम्भात् ॥४७॥

ज्ञानस्य तदुत्पत्ति-तदाकारताभ्यां प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वमिति बौद्धमतं, तथाहि–ते वदन्ति–घटादुत्पन्नत्वाद् घटाऽऽकारत्वाच्च घट-ज्ञानं घटस्यैव प्रकाशकं नान्यस्य, अर्थादनुत्पन्नस्य अतदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात् कथं तस्य प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थापकत्वं स्यात् ?

तन्न शोभनम्, व्यभिचारोपलम्भात्, तथाहि–किं ज्ञानस्य व्यस्ताभ्यां तदुत्पत्ति-तदाकारताभ्यां वस्तुव्यवस्थापकत्वं भवेत्, समस्ताभ्यां वा ? प्रथमपक्षे कपालक्षणो घटान्त्यक्षणस्य व्यवस्थापकः स्याद्, कपालस्य घटादुत्पन्नत्वात् तत्र केवलायास्तदुत्पत्तेः सत्त्वाद्, एवं स्तम्भः स्तम्भान्तरस्य च व्यवस्थापकः स्यात् तत्र केवलायास्तदाकारताया विद्यमानत्वात्। समस्ताभ्यामिति द्वितीयपक्षे तु घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य व्यवस्थापको भवेत्, तत्र तदुत्पत्ति-तदाकारतयोरुभयोर्विद्यमानत्वात्। यद्युच्येत तदुत्पत्ति-तदाकारतयोर्विद्यमानत्वेऽपि ज्ञानस्यैव विषयव्यवस्थापकत्वं नार्थस्य, तस्य जडत्वात्, तदपि नावितथं, समानार्थसमनन्तरप्रत्ययोत्पन्नज्ञाने व्यभिचारात्। तत्र तदुत्पत्ति-तदाकारतयोर्विद्यमानत्वेऽपि पूर्वज्ञानक्षणव्यवस्थापकत्वाऽभावात्, तस्मान्न तदुत्पत्ति-तदाकारताभ्यां ज्ञानस्य विषयव्यवस्थापकत्वम्, अपि तु ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मणः क्षय-क्षयोपशमाभ्यामेवेति दिक् ॥ ४७ ॥

इति बालबोधिन्या टिप्पण्या युक्ते श्रीवादिदेवसूरि-संदृब्धे श्रीप्रमाणनयतत्त्वाऽऽलोके आप्ताऽऽ-गमवर्ण-पद-वाक्य-सप्तभङ्गीस्वरूपनिर्णायकः चतुर्थः परिच्छेदः ।

पञ्चमः परिच्छेदः ।

तस्य विषयः सामान्य-विशेषाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु ॥ १ ॥

तस्य—प्रमाणस्य । अत्रेदं बोध्यं—सत्ताऽद्वैतवादिनो **वेदान्तिनः** सामान्यमेव तत्त्वमङ्गीकुर्वन्ति न तु विशेषरूपम् । **बौद्धाश्च** विशेषानेव स्वीकुर्वन्ति न तु सामान्यम् । **नैयायिकाश्च** यद्यपि सामान्यं विशेषाश्चेत्युभयमपि प्रमाणयन्ति तथाऽपि तयोः सर्वथा पृथग्भावमभ्युपगच्छन्ति ।

तदेतत्पक्षत्रयमपि न समीचीनम्, सामान्य-विशेषात्मकस्यैव वस्तुनः प्रमाणेन प्रतीयमानत्वाद्, नहि गौरित्युक्ते सामान्यमेव प्रतीयते विशेष एव वा, अपि तु यथा खुर-ककुत्-सास्ना-लाङ्गूल-विषाणाद्यवयवसंपन्नं वस्तुरूपं सामान्यं सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते तथैव महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते, नहि सामान्यं विहाय विशेषः कुत्रचिदुपलभ्यते विशेषं विहाय सामान्यं वा । तदुक्तम्—

"निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि ॥" *

तदेवं वस्तुनः सामान्य-विशेषात्मकत्वस्य प्रतीयमानत्वेऽपि तदु-

---

* श्लोकोऽयं रत्नाकरावतारिका स्याद्वादमञ्जर्यादिबहुषु ग्रन्थेषु दृश्यते, परं केन संदृब्धः ? इति तु न निश्चीयते मया, निश्चायकप्रमाणानुपलब्धेः । संशोधकः—**मुनिहिमांशुविजयः** ।

मनेकान्तवादः स्वतन्त्रवादश्च प्रतीतिपराहत एवेति संक्षेपः ॥ १ ॥

इदानीं हेतुद्वयेन वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वं प्रसाधयन्ति—

अनुगतविशिष्टाकारप्रतीतिविषयत्वात्, प्राचीनोत्तराकारपरित्यागोपादानावस्थानस्वरूपपरिणत्याऽर्थक्रियासामर्थ्यघटनाच्च ॥ २ ॥

वस्तु सामान्य-विशेषात्मकम्, अनुगतविशिष्टाकारप्रतीतिविषयत्वात्। 'तत्र अयं गौरयं गौः' इत्याकारा सदृशपरिणामलक्षणसामान्यगोचरा प्रतीतिरनुगताकारा प्रतीतिः। 'शबलोऽयं श्यामलोऽयम्' इत्याकारा गुणरूपविशेषगोचरा प्रतीतिः विशिष्टाकारा प्रतीतिः, इति तिर्यक्सामान्य-गुणाख्यविशेषलक्षणनेकान्तात्मकवस्तुसिद्धौ हेतुः। प्राचीनोत्तराकारपरित्यागोपादानावस्थानस्वरूपपरिणत्या पूर्वाकारस्य परित्याग उत्तराकारस्य च स्वीकारः ताभ्यां यद्द्रव्यस्यावस्थानं तत्स्वरूपा या परिणतिः तया परिणत्या अर्थक्रियासामर्थ्यघटनात् कार्य-करणोपपत्तेः, इत्यूर्ध्वतासामान्यपर्यायाख्यविशेषस्वरूपानेकान्तात्मकवस्तुसिद्धौ हेतुः ॥ २ ॥

सामान्यं द्विप्रकारं तिर्यक्सामान्यमूर्ध्वतासामान्यं च ॥ ३ ॥

तत्र तिर्यक्सामान्यं यथा—गोत्व-घटत्वादि। ऊर्ध्वतासामान्यं यथा-मृत्-सुवर्णादि ॥ ३ ॥

प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक्सामान्यं शबलशाबलेयादिपिण्डेषु गोत्वं यथा ॥ ४ ॥

व्यक्तिं व्यक्तिमधिश्रित्य या तुल्या परिणतिः–सदृशपरिणामः तत् तिर्यक्सामान्यं, यथा–शबल-शाबलेयादिषु नानावर्णविशिष्टेषु पिण्डेषु गोत्वम् ॥ ४ ॥

पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं कटक-कङ्कणाद्यनुगामिकाञ्चनवत् ॥ ५ ॥

कटकं भङ्क्त्वा कङ्कणे विधीयमाने पूर्वपरिणामः कटकलक्षणः, उत्तरपरिणामः कङ्कणस्वरूपः तयोः पूर्वोत्तरपरिणामयोरनुगतं यत् सुवर्णाऽऽख्यं द्रव्यं तदूर्ध्वतासामान्यमित्यर्थः ॥ ५ ॥

विशेषोऽपि द्विरूपो गुणः पर्यायश्च ॥ ६ ॥

गोत्वलक्षणतिर्यक्सामान्यविशिष्टेषु गोपिण्डेषु, शबल-शाबलेयादयो गुणा विशेषशब्दाभिधेयाः । ऊर्ध्वतासामान्यस्वरूपेषु सुवर्णादिद्रव्येषु कटक-कङ्कणादयः पर्याया विशेषपदवाच्या इति भावः ॥ ६ ॥

गुणः सहभावी धर्मो यथा–आत्मनि विज्ञान-व्यक्तिशक्त्यादिः ॥ ७ ॥

वस्तुषु यः सहभावी धर्मः स गुणः, यथाऽऽत्मनि विज्ञानव्यक्तिः–यत् किञ्चिज्ज्ञानं, विज्ञानशक्तिः–उत्तरज्ञानाकारपरिणामयोग्यता, सुखं यौवनमित्यादयो समकालभाविनो धर्मा गुणशब्दाभिधेयाः ॥ ७ ॥

---

१. °रणद्रव्य° ख ।

पर्यायस्तु क्रमभावी यथा *तत्रैव सुखदुःखादिः† ॥ ८ ॥

सुख-दुःख-हर्ष-विषादादयो ये धर्मा आत्मनि समकालं न स्थातुमर्हन्ति किन्तु क्रमेणैव भवन्ति ते पर्यायशब्दाभिधेया इत्यर्थः ॥ ८ ॥

इति बालबोधिन्याख्यया टिप्पण्या विभूषिते
श्रीवादिदेवसूरिसंदृब्धे प्रमाणनयतत्त्वा-
लोके प्रत्यक्षस्वरूपनिर्णायको
पञ्चमः परिच्छेदः ।

---

* आत्मन्येव । †अस्मिन् बहुवक्तव्यतया स्वल्पसूत्रेऽप्ययं परिच्छेदः पृथक्परिच्छेदत्वेन निर्धारितः, यथा-साहित्यदर्पणे पञ्चमपरिच्छेदः । स्याद्वादरत्नाकरनाम्न्यां स्वोपज्ञटीकायां प्रस्तुताष्टमसूत्रोपरि पञ्चसहस्राधिकश्लोकप्रमिता टीका श्रीवादिदेवसूरिकृता मुद्रिता तूपलभ्यते । संशोधकः—मुनिहिमांशुविजयः ।

षष्ठः परिच्छेदः ।

यत् प्रमाणेन प्रसाध्यते तदस्य फलम् ॥ १ ॥

प्रमाणेन हि अज्ञाननिवृत्त्यादिकं साध्यतेऽतस्तदेव अस्य-प्रमाणस्य फलमिति भावः ॥ १ ॥

तद्[1] द्विविधमानन्तर्येण पारम्पर्येण च ॥ २ ॥

प्रमाणस्य फलं द्विविधं आनन्तर्येण पारम्पर्येण च अव्यवहितं व्यवहितं चेत्यर्थः ॥ २ ॥

तत्राऽऽनन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् ॥ ३ ॥

सर्वप्रमाणनामव्यवहितफलमज्ञाननिवृत्तिः, सा च स्व-परव्यवसायरूपा, यथा–घटध्वंसः कपालसमुदायात्मकः, तथैवाज्ञानस्य निवृत्तिः–ध्वंसोऽपि स्व-परनिश्चयात्मक इति भावः ॥ ३ ॥

पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत् फलमौदासीन्यम् ॥४॥

केवलज्ञानस्य साक्षात्फलमज्ञाननिवृत्तिः । परम्पराफलं तु औदासीन्यं-सर्वपदार्थेषु उपेक्षा । हेयस्य परित्यक्तत्वादुपादेयस्य चोपादानात् सिद्धप्रयोजनत्वाद्, उपेक्षैव भवति, परम्पराफलं केवलिनामिति भावः ॥ ४ ॥

शेषप्रमाणानां पुनरुपादानहानोपेक्षाबुद्धयः ॥ ५ ॥

---

1. तद्द्विधाऽन॰ ख ।

केवलज्ञानव्यतिरिक्तानां प्रत्यक्ष-परोक्षलक्षणप्रमाणानां उपादेये कुङ्कुमचन्दनादौ उपादानबुद्धिः—ग्रहणबुद्धिः, हेये विषाङ्गारादौ हानबुद्धिः—त्यागबुद्धिः, उपेक्षणीये, तृणलोष्ठादौ उपेक्षाबुद्धिः पारंपर्येण फलमित्यर्थः ॥ ५ ॥

तत् प्रमाणतः स्याद् भिन्नमभिन्नं च, प्रमाणफलत्वान्यथाऽनुपपत्तेः ॥ ६ ॥

फलस्य प्रमाणतो भिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणे कथं प्रमाणस्यैव तत् फलं, न घटस्य ? भिन्नत्वाविशेषात् । अभिन्नत्वे प्रमाणमेव तत्त्वं स्यात्, न फलं किञ्चिद्, इति प्रमाण-फलत्वान्यथाऽनुपपत्तेः प्रमाणात् फलस्य भिन्नाभिन्नत्वमभ्युपगन्तव्यमिति भावः । प्रयोगश्च—फलं प्रमाणाद् भिन्नाभिन्नं, प्रमाणफलत्वान्यथाऽनुपपत्तेः ॥ ६ ॥

उपादानबुद्ध्याऽऽदिना प्रमाणाद् भिन्नेन व्यवहितफलेन हेतोर्व्यभिचार इति न विभावनीयम् ॥ ७ ॥

प्रमाणाद् भिन्ने उपादानबुद्ध्यादौ उक्तलक्षणो हेतुर्वर्तते अतो व्यभिचार इति न विभावनीयम् ॥ ७ ॥

अत्र हेतुमाहुः—

तस्यैकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाणादभेदव्यवस्थितेः ॥ ८ ॥

तस्य—उपादानबुद्ध्यादिरूपस्य व्यवहितफलस्य एकप्रमातृतादात्म्येन वर्तमानत्वात् प्रमाणादभिन्नत्वमित्यर्थः । प्रयोगश्च—उपादान-

बुद्ध्यादिरूपं फलं प्रमाणादभिन्नं, एकप्रमातृतादात्म्याद्, अव्यवहित-फलवत् ॥ ८ ॥

एकप्रमातृतादात्म्यमुपपादयन्ति—

प्रमाणतया परिणतस्यैवाऽऽत्मनः फलतया परिणतिप्रतीतेः ॥ ९ ॥

यः प्रमाता पूर्वं प्रमाणतया परिणतः स एव फलतया परिणमति, इत्येकप्रमात्रपेक्षया प्रमाण-फलयोरभेद इति ॥ ९ ॥

यः प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजत्युपेक्षते चेति सर्वसंव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात् ॥ १० ॥

यः प्रमाता प्रमाणेन वस्तु निश्चिनोति स एव तद् गृह्णाति परित्यजति उपेक्षते चेति सर्वैरनुभूयते, न त्वन्यस्य प्रमातुः प्रमाणतया परिणामोऽन्यस्य चोपादानबुद्ध्यादिलक्षणफलतया इति कस्यापि प्रतीति-रस्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

इतरथा स्व-परयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लवः प्रसज्येत ॥ ११ ॥

यद्येकस्यैव प्रमातुः प्रमाणफलतादात्म्यं नाभ्युपगम्येत तर्हि 'इमे प्रमाण-फले स्वकीये इमे च परकीये' इति व्यवस्था न स्यात् ।

अयं भावः—देवदत्तात्मनि विद्यमानयोः प्रमाण-फलयोर्यथा देवदत्तसकाशाद् भिन्नत्वं तथा जिनदत्तादपि । एवं जिनदत्तात्मनि विद्यमानयोः प्रमाण-फलयोर्यथा जिनदत्ताद् भिन्नत्वं तथा देवदत्तादपि । एवंस्थिते देवदत्तात्मनि विद्यमाने प्रमाणफले जिनदत्तस्य, जिनदत्ताऽऽ-

त्मनि च विद्यमाने प्रमाणफले देवदत्तस्य कुतो न भवेताम् ? भेदस्य उभयत्राविशेषाद्, इति एकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाण-फलयोरवस्थिति-रङ्गीकर्तव्येति ॥ ११ ॥

अज्ञाननिवृत्तिस्वरूपेण प्रमाणादभिन्नेन साक्षात्फलेन साधनस्याऽनेकान्त इति नाशङ्कनीयम् ॥१२॥

ननु प्रमाण-फलत्वाऽन्यथानुपपत्तेरिति प्रमाण-फलयोर्भेदाऽभेदसाधकत्वेनोपन्यस्तो हेतुः प्रमाणात् सर्वथाऽभिन्ने अज्ञाननिवृत्त्याख्येऽव्यवहित-फलेऽपि वर्तते अतो व्यभिचारीति बौद्धैर्नाऽऽरेकणीयम् ॥ १२ ॥

कुतः ? इत्याहुः—

कथञ्चित् तस्यापि प्रमाणाद् भेदेन व्यवस्थानात् ॥ १३ ॥

अज्ञाननिवृत्तिरूपस्य फलस्यापि प्रमाणात् कथञ्चिद्भिन्नत्वेनावस्थानादित्यर्थः ॥ १३ ॥

तदेवोपपादयन्ति—

साध्य-साधनभावेन प्रमाण-फलयोः प्रतीयमानत्वात् ॥ १४ ॥

प्रमाणाऽज्ञाननिवृत्त्याख्यफले परस्परं भिद्येते, साध्य-साधनभावेन प्रतीयमानत्वात्, ये साध्य-साधनभावेन प्रतीयेते ते परस्परं भिद्येते यथा-कुठारच्छिदे, इत्यनुमानेन प्रमाणाऽज्ञाननिवृत्त्याख्यफलयोः कथञ्चिद्भेदोऽपि सिध्यतीति भावः ॥ १४ ॥

ननु प्रमाण-फलयो: साध्य-साधनभाव एव कुतः ? इत्याशङ्कायां प्रथमं तावत् प्रमाणस्य साधनत्वं साधयन्ति—

प्रमाणं हि करणाख्यं साधनं, स्व-परव्यवसितौ साधकतमत्वात् ॥ १५ ॥

यत् खलु क्रियायां साधकतमं तत् करणाऽऽख्यं साधनं यथा-कुठारः, साधकतमं च स्व-परव्यवसितौ प्रमाणं तस्मात् करणाख्यं साधनमिति ॥ १५ ॥

स्व-परव्यवसितिक्रियारूपाज्ञाननिवृत्त्याख्यं फलं तु साध्यं, प्रमाणनिष्पाद्यत्वात् ॥ १६ ॥

यत् प्रमाणेन निष्पाद्यं तत् साध्यं यथा-उपादानबुद्ध्यादिकं, प्रमाणेन निष्पाद्यं च स्व-परव्यवसितिक्रियारूपाज्ञाननिवृत्त्याख्यं फलं, तस्मात् तत् साध्यमिति ॥ १६ ॥

प्रमातुरपि स्व-परव्यवसितिक्रियायाः कथञ्चिद् भेदः ॥ १७ ॥

न केवलं प्रमाणात् स्व-परव्यवसितिक्रियाया भेदः किन्तु प्रमातुरात्मनोऽपि सकाशाद् भेद इत्यर्थः ॥ १७ ॥

कर्तृ-क्रिययोः साध्य-साधकभावेनोपलम्भात् ॥ १८ ॥

ये साध्य-साधकभावेनोपलभ्येते ते भिन्ने, यथा-देवदत्तदारुच्छिदिक्रिये, साध्यसाधकभावेनोपलभ्येते च प्रमातृ-स्वपरव्यवसितिलक्षणक्रिये, तस्मात् कथञ्चिद् भिन्ने इत्यर्थः ॥ १८ ॥

---

१. निःपाद्य° ख ।

कर्ता हि साधकः, स्वतन्त्रत्वात्, क्रिया तु साध्या, कर्तृनिर्वर्त्यत्वात् ॥ १९ ॥

न च क्रिया क्रियावतः सकाशादभिन्नैव भिन्नैव वा, प्रतिनियतक्रिया-क्रियावद्भावभङ्गप्रसङ्गात् ॥ २० ॥

अयं भावः—यदि क्रिया क्रियावतः सकाशादेकान्तेनाऽभिन्नाऽङ्गीक्रियेत तर्हि क्रियावन्मात्रमेव तात्त्विकं स्यात्, न तु द्वयम्, यदि चैकान्तेन भिन्नाऽभ्युपगम्येत तर्हि 'अस्यैवेयं क्रिया' इति सम्बन्धनिश्चयो न स्यात्, भेदाविशेषाद् अन्यस्याप्यसौ किं न भवेत्? न च समवाय-सम्बन्धो नियामकः, तस्यैकत्वाद्, व्यापकत्वाच्च नियामकासम्भवात्, तस्मात् क्रिया-क्रियावतोरेकान्तेन भेदे अभेदे वाऽङ्गीक्रियमाणे क्रिया-क्रियावद्भावभङ्गाद् भिन्नाभिन्नत्वमेवाभ्युपगन्तव्यमिति ॥ २० ॥

संवृत्या प्रमाण-फलव्यवहार इत्यप्रामाणिकप्रलापः, परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधात् ॥ २१ ॥

नन्वयं प्रमाण-फलव्यवहारः संवृत्या-कल्पनयैव भवति न तु परमार्थतोऽस्ति तस्माद् व्यर्थ एव तद्विषयकभेदाभेदविचार इति चेत्, न, प्रमाणफलव्यवहारस्य काल्पनिकत्वाङ्गीकारे वस्तुतः स्वाभिमतसिद्धिरेव न स्यात्, तथाहि—भवता प्रमाण-फलव्यवहारस्य काल्पनिकत्वं परमार्थवृत्त्याऽङ्गीकरणीयम्, अन्यथा स्वेष्टविघातः स्यात्। तच्च काल्पनिकत्वं प्रमाणात् स्वीक्रियते, अप्रमाणाद् वा? न तावदप्रमाणात्, तस्य स्वाभिमतसिद्धिं प्रत्यकिञ्चित्करत्वात्। यदि प्रमाणात्, तदपि प्रमाणं

काल्पनिकम्, अकाल्पनिकं वा ? यदि काल्पनिकं तर्हि कथं काल्पनिकात् प्रमाणात् प्रमाण-फलव्यवहारस्य परमार्थतः काल्पनिकत्वसिद्धिः ? तथा च प्रमाणफलव्यवहारस्य सत्यत्वमेवायातम्, यदि अकाल्पनिकं प्रमाणफलग्राहकं प्रमाणं तर्हि 'सर्वोऽपि प्रमाणफलव्यवहारः काल्पनिकः' इति प्रतिज्ञाविरोधः, एकत्र प्रमाणस्याकाल्पनिकत्वस्वीकारात् । तस्मात् प्रमाणफलव्यवहारः परमार्थभूत एवाभ्युपगन्तव्य इति ॥ २१ ॥

ततः पारमार्थिक एव प्रमाणफलव्यवहारः सकल-पुरुषार्थसिद्धिहेतुः स्वीकर्तव्यः ॥ २२ ॥

प्रमाणस्य स्वरूपादिचतुष्टयाद् विपरीतं तदा-भासम् ॥ २३ ॥

प्रमाणस्य स्वरूप-संख्या-विषय-फललक्षणात् स्वरूपचतुष्टयाद् विपरीतं स्वरूपाऽऽभासं, संख्याऽऽभासं, विषयाऽऽभासं, फलाऽऽभासमिति स्वरूपादिचतुष्टयाऽऽभासमित्यर्थः ॥ २३ ॥

अज्ञानात्मकानात्मप्रकाशक-स्वमात्रावभासक-निर्विकल्पक-समारोपाः प्रमाणस्य स्वरूपाभासाः ॥ २४ ॥

अज्ञानात्मकं च अनात्मप्रकाशकं च स्वमात्रावभासकं च निर्विकल्पकं च समारोपश्चेति पञ्च प्रमाणस्य स्वरूपाऽऽभासा इति ॥ २४ ॥

यथा—सन्निकर्षाद्यस्वसंविदित-परानवभासकज्ञान-दर्शन-विपर्यय-संशयानध्यवसायाः ॥२५॥

नैयायिकाद्यभिमतं सन्निकर्षादिकम् अज्ञानात्मकस्य दृष्टान्तः ।

मीमांसकाभिमतमस्वसंविदितज्ञानम् अनात्मप्रकाशकस्य । योगाचाराभिमतं परानवभासकं ज्ञानं स्वमात्रावभासकस्य । सौगताभिमतं दर्शनं निर्विकल्पकस्य । विपर्यय-संशया-ऽनध्यवसायास्तु समारोपस्येति । एतेषां सन्निकर्षादीनां स्वरूपं प्रथमपरिच्छेदे प्रदर्शितमिति नेह प्रतन्यते ॥ २५ ॥

एतेषां स्वरूपाऽऽभासत्वे कारणमाहुः—

तेभ्यः स्व-परव्यवसायस्यानुपपत्तेः ॥ २६ ॥

सन्निकर्षादिभ्यः स्व-परव्यवसायस्यानुपद्यमानत्वादेतेषां स्वरूपाऽऽभासत्वमित्यर्थः ॥ २६ ॥

सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते तत् तदाभासम् ॥ २७ ॥

तदाभासं—सांव्यवहारिकप्रत्यक्षाऽऽभासमित्यर्थः ॥ २७ ॥

यथा—अम्बुधरेषु गन्धर्वनगरज्ञानं, दुःखे सुखज्ञानं च ॥ २८ ॥

इन्द्रियानिन्द्रियनिबन्धनभेदेन सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं द्विविधमिति *पूर्वं प्रतिपादितम् । तत्र अम्बुधरेषु—मेघेषु यद् गन्धर्वनगरज्ञानं तदिन्द्रियनिबन्धनप्रत्यक्षाऽऽभासम् । दुःखे सुखज्ञानं चानिन्द्रियनिबन्धनप्रत्यक्षाभासमित्यर्थः ॥ २८ ॥

पारमार्थिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते तत् तदाभासम् ॥ २९ ॥

* द्वितीयपरिच्छेदपञ्चमसूत्रे, १६ पृष्ठे । सं०

यथा—शिवाख्यस्य राजर्षेरसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु सप्तद्वीपसमुद्रज्ञानम् ॥ ३० ॥

शिवाऽऽख्यस्य राजर्षेर्यदसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु सप्तद्वीपसमुद्रज्ञानं प्रादुर्बभूव तद्विभङ्गापरपर्यायमवध्याभासमित्यर्थः। मनःपर्याय-केवल-ज्ञानयोस्तु विपर्ययः कदाचिदपि न भवति, मनःपर्यायस्य संयमविशुद्धि-निबन्धनत्वात्, केवलज्ञानस्य च समस्ताऽऽवरणक्षयसमुत्थत्वादिति भावः ॥ ३० ॥

अननुभूते वस्तुनि तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम् ॥ ३१ ॥

प्रमाणमात्रेणानुपलब्धे वस्तुनि 'तत्' इत्याकारकं यज्ज्ञानं तत्-स्मरणाभासमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

अननुभूते मुनिमण्डले तन्मुनिमण्डलमिति यथा ॥ ३२ ॥

अनुभूतस्यैव वस्तुनः स्मरणं भवति नाऽननुभूतस्य, तस्मादननुभूते मुनिमण्डले 'तद् मुनिमण्डलम्' इति ज्ञानं स्मरणाऽऽभासम् ॥ ३२ ॥

तुल्ये पदार्थे स एवायमिति, एकस्मिंश्च तेन तुल्य इत्यादिज्ञानं प्रत्यभिज्ञाऽऽभासम् ॥ ३३ ॥

तुल्ये पदार्थे तेन सदृश इति जिज्ञासिते 'स एवायम्' इति ज्ञानम्, एकस्मिन् वस्तुनि स एव इति जिज्ञासिते 'तेन तुल्यम्' इति ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाऽऽभासमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

उदाहरन्ति—

यमलकजातवत् ॥ ३४ ॥

अयं भावः—एकस्या एव स्त्रियाः सहोत्पन्नयोः पुत्रयोर्मध्याद् यत्र 'अयं द्वितीयेन तुल्यः' इति ज्ञातव्यमस्ति तत्र 'स एवायम्' इति ज्ञानम्, यत्र 'स एवायम्' इति जिज्ञासा वर्तते तत्र तेन तुल्योऽयम्' इति ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाऽऽभासमिति ॥ ३४ ॥

असत्यामपि व्याप्तौ तदवभासस्तर्काभासः ॥३५॥

अव्याप्तौ व्याप्तिज्ञानं तर्काऽऽभास इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

स श्यामः, मैत्रतनयत्वाद् इत्यत्र यावान्मैत्रतनयः स श्याम इति यथा ॥ ३६ ॥

'स श्यामः, मैत्रतनयत्वात्' इत्यस्मिन्ननुमाने हेतोः सोपाधिकत्वात् साध्येन श्यामत्वेन सह व्याप्तिर्नास्ति तथापि 'यत्र यत्र मैत्रतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्' इत्याकारकं यत् तत्र व्याप्तिज्ञानमुन्मज्जति स तर्काऽऽभास इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

पक्षाऽऽभासादिसमुत्थं ज्ञानमनुमानाऽऽभासमवसेयम् ॥ ३७ ॥

अत्राऽऽदिपदेन हेत्वाभास-दृष्टान्ताऽऽभासोपनयाऽऽभास-निगमनाऽऽभासानां संग्रहः । स्पष्टमन्यत् ॥ ३७ ॥

तत्र प्रतीत-निराकृतानभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणास्त्रयः पक्षाऽऽभासाः ॥ ३८ ॥

प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणः निराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणश्चेति त्रयः पक्षाऽऽभासा इत्यर्थः । अप्रतीतानिराकृताभीप्सितसाध्यधर्मविशिष्टधर्मिणां सम्यक्पक्षत्वं प्रागुपदर्शितम् ॥ ३८ ॥

प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—आर्हतान् प्रत्यवधारणवर्जं परेण प्रयुज्यमानः समस्ति जीव इत्यादिः ॥ ३९ ॥

जैनान् प्रति 'समस्ति जीवः' इत्यवधारणार्थकैवकाररहितं वाक्यं यदा कश्चित् प्रयुङ्क्ते तदा तद्वचनं सिद्धसाधनापरपर्यायेण प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणदोषेण दूषितं भवति, **जैनैश्च** तावदनेकान्तात्मकं जीवादितत्त्वमङ्गीकृतमेवेति तान् प्रति जीवास्तित्वसाधनं सिद्धसाधनमेवेति भावः ॥ ३९ ॥

निराकृतसाध्यधर्मविशेषणः प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमलोकस्ववचनादिभिः साध्यधर्मस्य [3]निराकरणादनेकप्रकारः ॥ ४० ॥

प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, अनुमाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, आगमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, लोकनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, स्ववचननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, आदिपदात् स्मरणनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, प्रत्यभिज्ञाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, तर्कनिराकृत-

---

१ तृतीयस्मिन् परिच्छेदे १४ सूत्रे, २९ पृष्ठे । सं०

२. इत्यादि कख । ३. निराकृतत्वाद° ख ।

साध्यधर्मविशेषणश्चेति निराकृतसाध्यधर्मविशेषणोऽष्टप्रकार इत्यर्थः ॥ ४० ॥

प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—नास्ति भूतविलक्षण आत्मा ॥ ४१ ॥

प्रत्यक्षेण निराकृतः साध्यधर्मविशेषणो यस्य स प्रत्यक्षनिराकृत-साध्यधर्मविशेषणः पक्षाभासः, एवमग्रेऽपि ज्ञातव्यम्। स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण पृथिव्यादिभूतेभ्यो विलक्षण आत्माऽस्तीति ज्ञायते, अनेन स्वसंवेदन-प्रत्यक्षेण 'नास्ति भूतविलक्षण आत्मा' इति चार्वाकस्य प्रतिज्ञा बाधिता-भवति, यथा—' वह्निरनुष्णः ' इति प्रतिज्ञा बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षेण बाधिता भवतीति ॥ ४१ ॥

अनुमाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—नास्ति सर्वज्ञो वीतरागो वा ॥ ४२ ॥

'नास्ति सर्वज्ञो वीतरागो वा' इति प्रतिज्ञा 'यः कश्चिन्निर्ह्रासाऽ-तिशयवान् स कचित् स्वकारणजनितातिनिर्मूलक्षयः, यथा कनकादिमलः, 'निर्ह्रासातिशयवती च दोषावरणे' इत्यनुमानबाधिता। अनेनानुमानेन यत्र च कचन पुरुषधौरेये दोषाऽऽवरणयोः सर्वथा प्रक्षयप्रसिद्धिः स एव सर्वज्ञो वीतरागो वा। एवम् 'अपरिणामी शब्दः' इति प्रतिज्ञा 'शब्दः परिणामी कृतकत्वात्' इत्यनुमानेन बाध्यते इति ॥ ४२ ॥

आगमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—जैनेन रजनिभोजनं भजनीयम् ॥ ४३ ॥

जैनेन रजनिभोजनं भजनीयमिति प्रतिज्ञा—

" अत्थं गयम्मि आइच्चे पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए ॥ "
इति आगमवचनेन बाधिता भवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

लोकनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा–न पारमार्थिकः प्रमाण-प्रमेयव्यवहारः ॥ ४४ ॥

'प्रमाण-प्रमेयव्यवहारो न पारमार्थिकः' इति **सौगतानां** प्रतिज्ञा लोकेन लोकप्रतीत्या बाध्यते, लोको हि प्रमाणं प्रमेयं च सत्यत्वेनाङ्गीकृत्यैव प्रवर्तते अन्यथा कस्यापि कस्मिन्नपि विषये प्रवृत्तिरेव न स्यात् । इयं लोकप्रतीतिर्न पृथक्प्रमाणत्वेनावधारणीया, अस्याः प्रत्यक्षादिष्वेवान्तर्भावात्, पृथग् निर्देशस्तु शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थमेवेति । एवं 'नरशिरःकपालः शुचिः, प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खादिवत्' इत्यादीन्यप्युदाहरणानि दृष्टव्यानि ॥ ४४ ॥

स्ववचननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा–नास्ति प्रमेयपरिच्छेदकं प्रमाणम् ॥ ४५ ॥

'नास्ति प्रमेयपरिच्छेदकं प्रमाणम्' इति यो ब्रूते स 'ममेदं वचनं प्रमाणम्' इति मत्वैव ब्रूते, अन्यथा तेन मौनिनैवं स्थातव्यं, ब्रुवाणस्तु स्ववचनेनैव व्याहन्यते, तथाहि–परप्रत्यायनार्थमेव शब्दप्रयोगः, यदि

---

१ अस्तं गते आदित्ये पुरस्ताच्चानुद्गते ।
आहारादिकं सर्वं मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥
(इति संस्कृतच्छाया)

२ "आहारमइअं" इत्यपि पाठो दृश्यते ।

३ दशवैकालिकसूत्रस्याष्टमाध्ययने द्वितीयोद्देशके २८ तमः श्लोकोऽयं २३० पृष्ठे । संशोधकः ।

स्ववचने प्रामाण्यग्रह एव नास्ति तर्हि तस्य परप्रत्यायनाय शब्दोच्चारणे प्रवृत्तिरेव न स्यात्, प्रवृत्तौ तु स्ववचने प्रामाण्यग्रहस्याऽऽवश्यकत्वाद् 'नास्ति प्रमेयपरिच्छेदकं प्रमाणम्' इति प्रतिज्ञा स्ववचनेनैव व्याहता भवतीति भावः। एवं 'निरन्तरमहं मौनी' इत्याद्यपि दृश्यम्।

स्मरणनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—'स सहकारतरुः फलशून्यः' इति कस्यचित् प्रतिज्ञा, सहकारतरुं यः फलविशिष्टत्वेन स्मरति, तस्य स्मरणेन निराक्रियते। प्रत्यभिज्ञानिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—सदृशेऽपि क्वचन वस्तुनि कश्चनोर्ध्वतासामान्यभ्रान्त्या प्रतिज्ञां कुरुते 'तदेवेदम्' इति तस्येयं प्रतिज्ञा तिर्यक्सामान्यावलम्बिना 'तेन सदृशम्' इति प्रत्यभिज्ञानेन बाध्यते। तर्कनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—'यो यस्तत्पुत्रः स स श्याम इति व्याप्तिः समीचीना' इत्ययं पक्षः 'यो जनन्युपभुक्तशाकाद्याहारपरिणामपूर्वकस्तत्पुत्रः स श्यामः' इति व्याप्तिग्राहकेण सम्यक्तर्केण व्याहन्यते ॥ ४५ ॥

अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणो यथा—स्याद्वादिनः शाश्वतिक एव कलशादिरशाश्वतिक एव वेति वदतः ॥ ४६ ॥

स्याद्वादिभिस्तावत् पदार्थानां कथञ्चिन्नित्यानित्यत्वमेवाङ्गीकृतं तथापि कदाचिदसौ **स्याद्वादी** सभाक्षोभादिना 'घटो नित्य एव' अथवा 'घटोऽनित्य एव' इति प्रतिज्ञां करोति तदा तस्येयं प्रतिज्ञाऽनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणदोषेण दूषिता भवति, **स्याद्वादिनो** हि सर्वत्र वस्तुनि नित्यत्वैकान्तोऽनित्यत्वैकान्तो वा नाभीप्सितः ॥ ४६ ॥

पक्षाऽऽभासान् निरूप्य हेत्वाभासानाहुः—

असिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥४७॥

व्याप्त्याश्रयाभावादहेतवोऽपि हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासाः-दुष्टहेतव इत्यर्थः, ते चाऽसिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकभेदेन त्रिविधाः ॥४७॥

यस्यान्यथाऽनुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः ॥ ४८ ॥

यस्य हेतोः केनापि प्रमाणेनान्यथाऽनुपपत्तिर्न प्रतीयते सोऽसिद्धः, निश्चितान्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोः ॥ ४८ ॥

स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ॥ ४९ ॥

स हेतुर्द्विविधः। यो वादि-प्रतिवादिसमुदायरूपस्योभयस्यासिद्धः स उभयाऽसिद्धः। यस्त्वन्यतरस्य वादिनः प्रतिवादिनो वाऽसिद्धः सोऽन्यतराऽसिद्ध इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

उभयासिद्धो यथा—परिणामी शब्दः चाक्षुषत्वात् ॥ ५० ॥

शब्दे चाक्षुषत्वं वादि-प्रतिवादिनोरुभयोरप्यसिद्धं, श्रावणत्वात् शब्दस्य, तस्मादयं हेतुरुभयासिद्ध इत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्यतरासिद्धो यथा—अचेतनास्तरवः, विज्ञानेन्द्रिया-ऽऽयुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात् ॥ ५१ ॥

विज्ञानस्येन्द्रियाणामायुषश्च निरोधः—अभाव इति विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधः, तल्लक्षणं यन्मरणं तदभावाद् इति बौद्धा वृक्षेषु अचेतनत्वप्रसाधनार्थं हेतुमुपन्यस्यन्ति तन्न युक्तम्, अस्य हेतोः प्रतिवाद्यसिद्धिकलङ्क-

दूषितत्वात् । प्रतिवादिनां जैनानामागमे[1] विज्ञानेन्द्रियाऽऽयुषां वृक्षेषु प्रतिपादितत्वात् । बाधसिद्धेरुदाहरणं तु—'सुखादयोऽचेतनाः, उत्पत्तिमत्त्वात्' इत्यत्र वादिनः सांख्यस्योत्पत्तिमत्त्वमसिद्धं, तन्मते आविर्भावस्यैवाङ्गीकारात् ॥ ५१ ॥

साध्यविपर्ययेणैव यस्यान्यथाऽनुपपत्तिरध्यवसीयते स विरुद्धः ॥ ५२ ॥

यस्यान्यथाऽनुपपत्तिः—अविनाभावः साध्यविपर्ययेणैव साध्याभावेनैव निश्चीयते न तु साध्येन, स विरुद्ध इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

यथा—नित्य एव पुरुषोऽनित्य एव वा, प्रत्यभिज्ञानादिमत्त्वात् ॥ ५३ ॥

'पुरुषो नित्य एव प्रत्यभिज्ञानादिमत्त्वात्' अस्मिन्ननुमाने हेतोः सर्वथा नित्यत्वविशिष्टसाध्यविपरीतेन परिणामिपुरुषेण व्याप्तत्वाद् विरुद्धत्वं, नहि स्थिरैकरूपस्य पुरुषस्य 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादिरूपं प्रत्य-

---

१ से बेमि—इमं पि (मनुष्यशरीरमपि) जाइधम्मयं एयं पि (वनस्पतिशरीरमपि) जाइधम्मयं, इमं पि बुड्ढिधम्मयं एयं पि बुड्ढिधम्मयं, इमं पि चित्तमंतयं एयं पि चित्तमंतयं, इमं पि छिण्णं मिलाइ एयं पि छिण्णं मिलाइ, इमं पि आहारगं एयं पि आहारगं,... । (सो ब्रवीमि—इदमपि (मनुष्यशरीरमपि) जाति-(जन्म)धर्मम् एतदपि (वनस्पतिशरीरमपि) जातिधर्मम्, इदमपि वृद्धिधर्मम् एतदपि वृद्धिधर्मम्, इदमपि चित्तवद् (ज्ञानयुक्तं) एतदपि चित्तवद्, इदमपि छिन्नं म्लायति, एतदपि छिन्नं म्लायति इदमपि आहारकम्, एतदपि आहारकम्...... । इति संस्कृतच्छाया—इतिश्रीआचाराङ्गनाम्नि प्रथमेऽङ्गे प्रथमाध्ययनपञ्चमोद्देशके ४६ सूत्रे, ६५ पृष्ठे । सशोधकः—अनेकान्ती ।

भिज्ञानं सम्भवति, सुषुप्ताद्यवस्थायामिव बाह्यार्थग्रहणे प्रवृत्त्यभावात् । बाह्यार्थग्रहणे प्रवृत्ते सति पुरुषस्य स्थिरैकरूपत्वहानिः स्यात्, बाह्यार्थग्रहणरूपेण परिणतत्वात्, तस्मान्न स्थिरैकरूपे पुरुषे कदाचिदपि प्रत्यभिज्ञानं सम्भवति । एवमेव 'पुरुषोऽनित्य एव, प्रत्यभिज्ञानादिमत्त्वात्' इति **सौगतानुमाने** हेतोर्निरन्वयविनाशलक्षणाऽनित्यैकरूपसाध्यविपरीतेन परिणामिपुरुषेण व्याप्तत्वाद् विरुद्धत्वम् ।

अयमर्थः—अन्यत्र देशे काले वा अनुभूतस्य वस्तुनोऽन्यत्र देशे काले वा पुनरनुभवे पूर्वदृष्टत्वेन स्मरणे च सति यत् 'सोऽयं' इत्याकारकं ज्ञानमुन्मज्जति तत् प्रत्यभिज्ञानम् । **बौद्धमते** तावदात्मनः क्षणिकत्वाद् य आत्मा प्रागनुभूतवान् वस्तु, स आत्मा तदानीमेव विनष्ट इति तेन तद्वस्तु पुनरपि द्रष्टुं स्मर्तुं वा शक्यत इति न प्रत्यभिज्ञानादिमत्त्वं आत्मनः सिध्यति । एवं च नानित्यत्वैकान्तेन साकं प्रत्यभिज्ञानादिमत्त्वस्य व्याप्तिरस्ति, अपि तु कथञ्चिन्नित्याऽनित्यत्वेन सहैवेति विरुद्धोऽयं बौद्धमते हेतुः ॥ ५३ ॥

यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः ॥ ५४ ॥

यस्य हेतोः, अन्यथानुपपत्तिः—साध्येन सहाऽविनाभावः सन्दिह्यते—क्वचित् साध्याधिकरणे क्वचित् साध्याऽभावाधिकरणे हेतोर्वर्तनात् संदेहविषयो भवति सोऽनैकान्तिकः ॥ ५४ ॥

स [1]द्वेधा–निर्णीतविपक्षवृत्तिकः सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकश्च ॥ ५५ ॥

---

१. स द्वैधा ख।

निर्णीता विपक्षे वृत्तिर्यस्यासौ निर्णीतविपक्षवृत्तिकः । संदिग्धा विपक्षे वृत्तिर्यस्य स संदिग्धविपक्षवृत्तिकः ।

अयमर्थः—यस्य हेतोर्विपक्षे साध्याऽभावाधिकरणे वृत्तिर्निश्चीयते स निर्णीतविपक्षवृत्तिकोऽनैकान्तिकः । यस्य तु विपक्षे वृत्तिः सन्दिह्यते स सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकोऽनैकान्तिक इति ॥ ५५ ॥

निर्णीतविपक्षवृत्तिको यथा—नित्यः शब्दः, प्रमेयत्वात् ॥ ५६ ॥

'शब्दो नित्यः, प्रमेयत्वात्' इत्यस्मिन्ननुमाने प्रमेयत्वहेतोर्विपक्षे नित्यत्वाभावाधिकरणेऽनित्ये घटादौ वृत्तिर्निर्णीयते, अतो भवति सन्देहः किमयं हेतुर्नित्यत्वेन व्याप्त उताऽनित्यत्वेनेति ? तथा चाऽविनाभावस्य सन्देहादयं हेतुर्निर्णीतविपक्षवृत्तिकोऽनैकान्तिक इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

संदिग्धविपक्षवृत्तिको यथा—विवादपदाऽऽपन्नः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति, वक्तृत्वात् ॥ ५७ ॥

अस्मिन्ननुमाने "वक्तृत्वात्" इति हेतोर्विपक्षे सर्वज्ञे वृत्तिः संदिह्यते, 'किं सर्वज्ञे वक्तृत्वं वर्तते न वा'? इति । तस्मादयं हेतुः संदिग्धविपक्षवृत्तिकोऽनैकान्तिक इति ॥ ५७ ॥

अथ दृष्टान्ताऽऽभासान् प्रदर्शयन्ति—

साधर्म्येण दृष्टान्ताऽऽभासो नवप्रकारः ॥ ५८ ॥

साधर्म्य-वैधर्म्यभेदेन दृष्टान्तस्य द्विविधत्वं प्राक् प्रदर्शितम् ।

---

१. वृत्तिकश्च क । २ विवादापन्नपुमान् स ख । ३ तृतीयपरिच्छेदे, ४४ सूत्रे, पृ० ५२ ।

अतस्तदाभासस्यापि साधर्म्य-वैधर्म्यभेदेन द्विविधत्वमर्थादायातम् । तत्र साधर्म्येण दृष्टान्ताऽऽभासो नव प्रकार इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

साध्यधर्मविकलः, साधनधर्मविकलः, उभयधर्मविकलः, संदिग्धसाध्यधर्मा, † सन्दिग्धसाधनधर्मा, सन्दिग्धोभयधर्मा, अनन्वयः, अप्रदर्शितान्वयः, विपरीतान्वयश्चेति ॥ ५९ ॥

साध्यधर्मविकलादिभेदेन साधर्म्यदृष्टान्ताऽऽभासो नवविध इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

तत्राऽपौरुषेयः शब्दः, अमूर्तत्वाद्, दुःखवदिति साध्यधर्मविकलः ॥ ६० ॥

अत्र दृष्टान्ते दुःखे अपौरुषेयत्वं नास्ति, पुरुषव्यापारजन्यत्वाद् दुःखस्य । तस्मात् साध्यधर्मेणापौरुषेयत्वेन विकलत्वादयं साध्यधर्मविकलाख्यो दृष्टान्ताऽऽभास इत्यर्थः ॥ ६० ॥

तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकलः ॥ ६१ ॥

---

† अत्र "द्विपदाद् धर्मादन् ॥ ७/३/१४१ ॥ इति सिद्धहेमचन्द्राख्यव्याकरणसूत्राद् अन् न भवत्यतो व्याकरणदोष इति न मन्तव्यं मनीषिभिः, कर्मधारयपूर्वपदबहुव्रीहिसमासेन साधुत्वात् । यदाहुः कवीश्वराः श्रीमेघविजयोपाध्यायाश्चन्द्रप्रभायाम्–"सन्दिग्धसाध्यधर्मेत्यादौ तु कर्मधारयपूर्वपदो बहुव्रीहिः" अ० ७/३/१४१ पृ० १३२ इति ॥ सन्दिग्धः साध्यो धर्मो यत्र स सन्दिग्धसाध्यधर्मा इति तत्सिद्धिः । एवमन्यत्रापि । संशोधकः—मुनिहिमांशुविजयः ।

१. °न्वयश्च क । २ तत्राद्योऽपौ° क ।

'शब्दोऽपौरुषेयः, अमूर्तत्वात् परमाणुवत्' इत्यत्र यद्यपि परमाणौ साध्यधर्मोऽपौरुषेयत्वमस्ति तथापि साधनधर्मोऽमूर्तत्वं नास्ति तस्मात् साधनधर्मविकलोऽयं दृष्टान्तः ॥ ६१ ॥

कलशवदित्युभयधर्मविकलः ॥ ६२ ॥

'शब्दोऽपौरुषेयः, अमूर्तत्वात् कलशवत्' इत्यत्र दृष्टान्ते कलशे साध्यधर्मस्याऽपौरुषेयत्वस्य साधनधर्मस्याऽमूर्तत्वस्य चाभावात् साध्य-साधनोभयधर्मविकलत्वादुभयधर्मविकलः। कलशस्य पौरुषेयत्वाद् मूर्तत्वाच्चेति भावः ॥ ६२ ॥

रागादिमानयं, वक्तृत्वाद्, देवदत्तवदिति सन्दिग्धसाध्यधर्मा ॥ ६३ ॥

'अयं रागादिमान्, वक्तृत्वात्, देवदत्तवत्' इत्यत्र दृष्टान्ते देवदत्ते रागादयः सन्ति न वा? इति सन्देहो वर्तते, परचेतोविकाराणामप्रत्यक्षत्वात्, रागाद्यव्यभिचारिलिङ्गाभावादनुमानेनापि ज्ञातुमशक्यत्वाच्च। तस्मात् संदिग्धो रागादिमत्त्वलक्षणः साध्यधर्मो यत्र दृष्टान्तेऽसौ संदिग्धसाध्यधर्मा ॥ ६३ ॥

मरणधर्माऽयं, रागादिमत्त्वात्, मैत्रवदिति सन्दिग्धसाधनधर्मा ॥ ६४ ॥

'अयं मरणधर्मा, रागादिमत्त्वात् मैत्रवत्' इत्यत्र दृष्टान्ते मैत्रे साधनधर्मस्य रागादिमत्त्वस्य संदिग्धत्वात् सन्दिग्धसाधनधर्मनामको दृष्टान्ताऽऽभास इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

नायं सर्वदर्शी, रागादिमत्त्वात्, मुनिविशेषवदिति संदिग्धोभयधर्मा ॥ ६५ ॥

दृष्टान्ते मुनिविशेषे साध्यधर्मस्य सर्वदर्शित्वस्य साधनधर्मस्य रागादिमत्त्वस्य च संशयविषयत्वादयं संदिग्धोभयधर्मा ॥ ६५ ॥

रागादिमान् विवक्षितः पुरुषः, वक्तृत्वाद्, इष्टपुरुषवदित्यनन्वयः ॥ ६६ ॥

'विवक्षितः पुरुषो रागादिमान्, वक्तृत्वाद्, इष्टपुरुषवत्' इत्यत्र दृष्टान्ते इष्टपुरुषे यद्यपि रागादिमत्त्वं वक्तृत्वं च साध्य-साधनधर्मौ दृष्टौ तथापि 'यो यो वक्ता स स रागादिमान्' इति व्याप्त्यभावादनन्वय-लक्षणो दृष्टान्ताऽऽभास इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, घटवदित्यप्रदर्शितान्वयः ॥ ६७ ॥

अत्र दृष्टान्ते घटे 'यत्र यत्र कृतकत्वं तत्र तत्रानित्यत्वम्' इत्यन्वयव्याप्तिर्वर्तते तथाऽपि वादिना वचनेन न प्रकाशितेत्य-प्रदर्शितान्वयः ॥ ६७ ॥

अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, यदनित्यं तत् कृतकं, घटवदिति विपरीतान्वयः ॥ ६८ ॥

अत्र 'यत् कृतकं तदनित्यम्' इत्यन्वये वक्तव्ये "यदनित्यं तत् कृतकम्" इति विपरीतमुक्तं तस्मादत्र विपरीतान्वयो दृष्टान्ताऽऽभासः ।

इदमत्र तात्पर्यम्—प्रसिद्धानुवादेन ह्यप्रसिद्धं विधीयते । प्रकृता-नुमाने तु कृतकत्वं प्रसिद्धं, हेतुत्वेनोपादानात् । अनित्यत्वं चाप्रसिद्धं साध्यत्वेन निर्देशात् । यदित्यनुवादसर्वनाम्ना प्रसिद्धस्य हेतोरेव निर्देशो

युक्तः, नाप्रसिद्धस्य साध्यस्य। वादिना तु यच्छब्देनाऽप्रसिद्धस्य साध्यस्य निर्देशः कृत इति विपरीतान्वयः प्रदर्शितः ॥ ६८ ॥

वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताऽऽभासो नवधा ॥ ६९ ॥

असिद्धसाध्यव्यतिरेकः, असिद्धसाधनव्यतिरेकः, असिद्धोभयव्यतिरेकः, संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः, संदिग्धसाधनव्यतिरेकः, संदिग्धोभयव्यतिरेकः, अव्यतिरेकः, अप्रदर्शितव्यतिरेकः, विपरीतव्यतिरेकश्च ॥७०॥

असिद्धसाध्यव्यतिरेकादिभेदेन वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताऽऽभासो नवप्रकार इत्यर्थः ॥ ७० ॥

[1]तेषु भ्रान्तमनुमानं, प्रमाणत्वात्, यत्पुनर्भ्रान्तं न भवति न तत् प्रमाणं, यथा स्वप्नज्ञानमित्यसिद्धसाध्यव्यतिरेकः, स्वप्नज्ञानाद् भ्रान्तत्वस्याऽनिवृत्तेः ॥ ७१ ॥

अत्रानुमाने वैधर्म्यदृष्टान्तत्वेनोपन्यस्ते स्वप्नज्ञाने साध्यव्यतिरकस्य भ्रान्तत्वाभावस्यासिद्धत्वाद् असिद्धसाध्यव्यतिरेकोऽयं दृष्टान्ताऽऽभास इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं, प्रमाणत्वाद्, यत् तु सविकल्पकं न तत् प्रमाणं, यथा लैङ्गिकमित्यसिद्धसाधनव्यतिरेकः, लैङ्गिकात् प्रमाणत्वस्याऽनिवृत्तेः ॥ ७२ ॥

---

१. तेषु नवसु भ्रा° क ।

अत्र लैङ्गिकमिति वैधर्म्यदृष्टान्तत्वेनाभिमतं, तत्र साधनव्यतिरेकस्य प्रमाणाऽभावस्याऽसिद्धत्वादसिद्धसाधनव्यतिरेक इति भावः ॥ ७२ ॥

नित्याऽनित्यः शब्दः, सत्त्वात्, यस्तु न नित्याऽनित्यः स न सन्, तद्यथा स्तम्भ इत्यसिद्धोभयव्यतिरेकः, स्तम्भान्नित्याऽनित्यत्वस्य सत्त्वस्य चाऽव्यावृत्तेः ॥ ७३ ॥

अत्र वैधर्म्यदृष्टान्तत्वेनाभिमते स्तम्भे साध्यव्यतिरेकस्य नित्यानित्यत्वाभावस्य साधनव्यतिरेकस्य सत्त्वाभावस्य चाभावादसिद्धोभयव्यतिरेक इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

असर्वज्ञोऽनाप्तो वा कपिलः[1], अक्षणिकैकान्तवादित्वाद्, यः सर्वज्ञ आप्तो वा स क्षणिकैकान्तवादी, यथा सुगत इति संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः, सुगतेऽसर्वज्ञताऽ-नाप्तत्वयोः साध्यधर्मयोर्व्यावृत्तेः सन्देहात् ॥ ७४ ॥

अत्र साध्यमसर्वज्ञत्वमनाप्तत्वं वा, तद्व्यतिरेकस्य सर्वज्ञत्वस्याऽऽप्तत्वस्य वा दृष्टान्ते सुगते संदिग्धत्वात् संदिग्धसाध्यव्यतिरेकदृष्टान्ताऽऽभास इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

अनादेयवचनः कश्चिद् विवक्षितः पुरुषः, रागादिमत्त्वाद्, यः पुनरादेयवचनः स वीतरागः, तद्यथा शौद्धोदनिरिति संदिग्धसाधनव्यतिरेकः, शौद्धोदनौ रागादिमत्त्वस्य निवृत्तेः संशयात् ॥७५॥

---

१ साङ्ख्यदर्शनप्रवर्तकः । सं०

अत्रानुमाने साधनं रागादिमत्त्वं, तद्व्यतिरेकस्य रागादिमत्त्वाभावस्य दृष्टान्ते शौद्धोदनौ संदिग्धत्वात् संदिग्धसाधनव्यतिरेक इति ॥७५॥

न वीतरागः कपिलः, करुणाऽऽस्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वात्, यस्तु वीतरागः स करुणाऽऽस्पदेषु परमकृपया समर्पितनिजपिशितशकलः, तद्यथा तपनबन्धुरिति संदिग्धोभयव्यतिरेकः[1] इति तपनबन्धौ वीतरागाभावस्य करुणाऽऽस्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वस्य च व्यावृत्तेः संदेहात् ॥ ७६ ॥

अत्रानुमाने वीतरागत्वाऽभावः साध्यः। "करुणाऽऽस्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वात्" इति हेतुः। "यथा तपनबन्धुः" इति वैधर्म्यदृष्टान्तः, तत्र दृष्टान्ते तपनबन्धौ सुगते साध्यव्यतिरेकस्य वीतरागत्वस्य, साधनव्यतिरेकस्य करुणाऽऽस्पदेष्वपि परमकृपयाऽर्पितनिजपिशितशकलत्वस्य च संदिग्धत्वात् संदिग्धोभयव्यतिरेक इत्यर्थः ॥७६॥

न वीतरागः कश्चिद् विवक्षितः पुरुषः, वक्तृत्वात्, यः पुनर्वीतरागो न स वक्ता, यथोपलखण्ड इत्यव्यतिरेकः ॥ ७७ ॥

यद्यपि दृष्टान्ते उपलखण्डे—पाषाणे साध्याऽभावो वीतरागत्वलक्षणः, साधनाऽभावो वक्तृत्वाभावलक्षणश्च वर्तेते, तथापि नहि 'यत्र वीतरागत्वं तत्र तत्र वक्तृत्वाभावः' इत्याकारिका व्यतिरेकव्याप्तिः समस्तीत्यव्यतिरेकदृष्टान्ताऽऽभास इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

---

१. °रेकः तपन° ख ।

अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, आकाशवदित्य-प्रदर्शितव्यतिरेकः ॥ ७८ ॥

यद्यप्यत्र 'यदनित्यं न भवति तत् कृतकमपि न भवति' इति व्यतिरेकव्याप्तिर्विद्यते तथापि सा वादिना स्ववचनेन न प्रदर्शितेत्यप्रदर्शितव्यतिरेक इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अनित्यः शब्दः, कृतकत्वात्, यदकृतकं तन्नित्यं, यथा–आकाशमिति विपरीतव्यतिरेकः ॥७९॥

अत्र 'यन्नित्यं तदकृतकम्' इति व्यतिरेके प्रदर्शनीये "यदकृतकं तन्नित्यम्" इति वैपरीत्येन प्रदर्शित इति विपरीतव्यतिरेकः ॥ ७९ ॥

अथोपनयनिगमनाऽऽभासौ प्रदर्शयन्ति—

उक्तलक्षणोल्लङ्घनेनोपनय-निगमनयोर्वचने तदाभासौ ॥ ८० ॥

"हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः" [॥ ३-४९ ॥, पृ० ३८] इति उपनयस्य लक्षणम् । "साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम्" [॥ ३-५१ ॥, पृ० ३९] इति निगमनस्य च लक्षणं पूर्वमुक्तं तदुल्लङ्घनेन वचने, तद्वैपरीत्येन कथने तदाभासौ-उपनयाऽऽभास-निगमनाऽऽभासौ भवत इति ॥ ८० ॥

यथा–परिणामी शब्दः, कृतकत्वाद्, यः कृतकः स परिणामी, यथा कुम्भ इत्यत्र परिणामी च शब्द इति, कृतकश्च कुम्भ इति च ॥ ८१ ॥

अत्रानुमाने, 'कृतकश्च शब्दः' इत्याकारकं साध्यधर्मिणि साधन-

---

१. तन्नित्यदृष्टं यथा ख ।

धर्मस्योपसंहरणलक्षणं उपनयवाक्यं प्रयोक्तव्यमासीत् किन्तु वादिना 'परिणामी च शब्दः' इति साध्यधर्मिणि साध्यधर्मस्य, "कृतकश्च कुम्भः" इति दृष्टान्तधर्मिणि साधनधर्मस्य चोपसंहरणं कृतमिति उपनयाऽऽभास इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

तस्मिन्नेव प्रयोगे तस्मात् कृतकः शब्द इति, तस्मात् परिणामी कुम्भ[1] इति च ॥ ८२ ॥

तस्मिन्नेव प्रयोगे—'शब्दः परिणामी, कृतकत्वात्, कुम्भवत्' इति प्रयोगे 'तस्मात् परिणामी शब्दः' इत्याकारकसाध्यधर्मस्य साध्यधर्मिणि उपसंहरणलक्षणं निगमनवाक्यं प्रयोक्तव्यमासीत्, तथापि वादिना "तस्मात् कृतकः शब्दः" इति साधनधर्मस्य साध्यधर्मिणि, "तस्मात् परिणामी कुम्भः" इति साध्यधर्मस्य दृष्टान्तधर्मिणि उपसंहरणं कृतमिति निगमनाऽऽभासमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

अनाप्तवचनप्रभवं ज्ञानमागमाभासम् ॥ ८३ ॥

"अभिधेयं वस्तु यथाऽवस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः" [॥ ४-४ ॥, पृ० ५५] तद्विपरीतो योऽभिधेयं वस्तु यथाऽवस्थितं न जानीते यथाज्ञानं च नाभिधत्ते सोऽनाप्तः, तद्वचनसमुत्थं ज्ञानमागमाऽऽभासं ज्ञातव्यम् ॥ ८३ ॥

यथा—मेकलकन्यकायाः कूले तालहिन्तालयोर्मूले सुलभाः पिण्डखर्जूराः सन्ति त्वरितं गच्छत गच्छत शावकाः! ॥८४॥

मेकलकन्यका—नर्मदा, तस्याः कूले—तटे ॥ ८४ ॥

---

१ कुम्भो वा क ।, कुम्भ इति वा ख ।

प्रमाणस्य स्वरूपाऽऽभासमुक्त्वा संप्रति तस्य संख्याऽऽभासमाख्यान्ति—

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादिसंख्यानं तस्य संख्याऽऽभासम् ॥ ८५ ॥

प्रत्यक्ष-परोक्षभेदेन प्रमाणस्य द्वैविध्यमुक्तं, तद्वैपरीत्येन 'प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणम्' इति **चार्वाकाः**। 'प्रत्यक्षानुमाने एव' इति **सौगताः, वैशेषिकाश्च**। प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमा एव प्रमाणम्' इति **सांख्यादयो** यद् वदन्ति तत् प्रमाणस्य संख्याऽऽभासम्। प्रमाणसंख्याऽभ्युपगमश्च तत्तद्वादिनामित्थम्—

"**चार्वाको**ऽध्यक्ष[1]मेकं, **सुगत[2]-कणभुजौ** सानुमानं, **सशाब्दं**
तद्[3]द्वैतं **पारमर्षः[4]**, सहितमुपमया तद् त्रयं **चाक्षपादः[5]**।
अर्थाऽऽपत्त्या **प्रभाकृद्** वदति च निखिलं मन्यते **भट्ट[6]** एतत्
साभावं, द्वे प्रमाणे **जिनपतिसमये[7]** स्पष्टतोऽस्पष्टतश्च" ॥ ८५ ॥

विषयाभासं प्रकाशयन्ति—

सामान्यमेव, विशेष एव, तद्द्वयं वा स्वतन्त्रमित्यादिस्तस्य विषयाभासः ॥ ८६ ॥

---

१. प्रत्यक्षम्। २. बौद्ध-वैशेषिकौ। ३. प्रत्यक्षानुमानद्वयम्। ४. साङ्ख्यः। ५. नैयायिकः। "नैयायिकस्त्वाक्षपादो योगः" [३-५२६] इति **हैमः**। ६. कुमारिलः। ७ जैनसिद्धान्ते, 'समयः शपथे भाषा-सम्पदोः काल-संविदोः। सिद्धान्ताऽऽचार-संङ्केत-नियमावसरेषु च ॥ [तृतीयकाण्डे] इति **हैमानेकार्थकः**। प्रत्यक्षतः परोक्षतश्चेत्यर्थः। प्रत्यक्ष-परोक्षातिरिक्तप्रमाणखण्डनं तु **स्याद्वादरत्नाकरतो** (परि० २-१) **रत्नाकरावतारिकातश्च** विज्ञेयम्।–संशोधकः मुनिहिमांशुविजयः।

प्रमाणस्य विषयः सामान्य-विशेषाऽऽत्मकं वस्तु इति पूर्वमुक्तं, [सू० ॥ ५-१ ॥, पृ० ७८] तद्विपरीत्येन 'सामान्यमेव प्रमाणस्य विषयः, इति **सत्ताऽद्वैतवादिनः**, 'विशेष एव' इति **सौगताः**। तदुभयं च स्वतन्त्रम्' इति। **नैयायिका** यत् स्वीकुर्वन्ति स विषयाऽऽभास इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

अभिन्नमेव भिन्नमेव वा प्रमाणात् फलं, तस्य तदाभासम् ॥ ८७ ॥

अभिन्नमेव प्रमाणात् फलं **बौद्धानाम्**। भिन्नमेव **नैयायिका-दीनाम्**। तस्य प्रमाणस्य फलाऽऽभासमिति। वस्तुतः प्रमाणात् फलस्य भिन्नाभिन्नत्वं प्रागुपदर्शितम् ॥ ८७ ॥

इति बालबोधिन्याख्यया टिप्पण्या विभूषिते श्रीवादिदेवसूरिसंदब्धे प्रमाणनयतत्त्वा-लोके प्रत्यक्षस्वरूपनिर्णायको षष्ठः परिच्छेदः।

---

१. शाङ्करप्रमुखाः।

सप्तमः परिच्छेदः ।

नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांश-स्तदितरांशौदासीन्यतः, स प्रतिपत्तुरभिप्राय-विशेषो नयः ॥ १ ॥

श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य शाब्दबोधे प्रतिभासमानस्यार्थस्य, एकदेशः-अनन्तांशात्मके वस्तुनि एकोंऽशः तदितरांशौदासीन्यतो येन अभिप्रायविशेषेण नीयते–ज्ञायते स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥१॥

स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभासः ॥ २ ॥

योऽभिप्रायविशेषः स्वाभिप्रेतमंशमङ्गीकृत्य, इतरांशानपलपति स नयाभासः ॥ २ ॥

स व्यास-समासाभ्यां द्विप्रकारः ॥ ३ ॥

स नयो व्यास-समासाभ्यां विस्तर-संक्षेपाभ्यां द्विप्रकारः–द्विभेदः ॥ ३ ॥

व्यासतोऽनेकविकल्पः ॥ ४ ॥

---

१. पञ्चानुशासनविधातारो विख्यातख्यातयः **श्रीहेमचन्द्राचार्य-पादा** नयाऽऽभासादीनां (दुर्नयादीनां) लक्षणान्येवमाख्यातवन्तः—

"सदेव, सत्, स्यात् सद्, इति त्रिधार्थो
मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणैः ।"

—अन्ययोगव्यव० कारिका २८ ॥

२. जावइआ वयणपहा तावइआ चेव हुंति नयवाया ॥ (यावन्तो वचनपथास्तावन्तश्चैव भवन्ति नयवादाः) **इत्यार्षम्** । वादिमल्लप्रतिमल्लैः **श्रीमल्लवादिसूरिभिः श्रीनयचक्रवाल**ग्रन्थे नयाः शतशः प्रकाराः प्ररूपिता अतस्ततो विशेषपरिचयः प्राप्यः । स च ग्रन्थो मुद्र्यमाण (मुद्रितः) आस्ते । –संशोधकः मुनिहिमांशुविजयः ।

अनन्तांऽशात्मके वस्तुनि एकांऽशगोचरः प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय इति प्राक् प्रदर्शितम् । ततश्चानन्तांशात्मके वस्तुनि एकैकांश-पर्यवसायिनो यावन्तः प्रतिपत्तॄणामभिप्रायविशेषास्तावन्तो नया इति व्यासतोऽनेकप्रकार इत्यर्थः ॥ ४ ॥

समासतस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च ॥५॥

संक्षेपेण तु द्विप्रकारः । द्रव्यार्थिकः—द्रव्यार्थोऽस्ति यस्य विषयत्वेन स द्रव्यार्थिकः । पर्यायार्थिकः—पर्यायरूपोऽर्थः पर्यायार्थः, पर्यायार्थोऽस्ति यस्य विषयत्वेन स पर्यायार्थिकः ॥ ५ ॥

आद्यो नैगम-संग्रह-व्यवहारभेदात् त्रेधा ॥ ६ ॥

आद्यो द्रव्यार्थिकः । नैगमादिभेदात् त्रिविधः ॥ ६ ॥

धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्म-धर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद् विवक्षणं स नैकगमो नैगमः ॥ ७ ॥

धर्मयोः—पर्याययोः, धर्मिणोः—द्रव्ययोः, धर्मधर्मिणोः—द्रव्यपर्याययोश्च प्रधान-गौणभावेन विवक्षणं स नैगमः । नैके गमाः—बोधमार्गा यस्यासौ नैगम इति ॥ ७ ॥

सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः ॥ ८ ॥

प्रधानोपसर्जनभावेन विवक्षणमिहोत्तरत्र च सूत्रद्वये योजनीयम् ।

---

१. द्रवति, अदुद्रुवत्, द्रोष्यति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम् । सामान्यगोचरो द्रव्यार्थिकः, विशेषगोचरश्च पर्यायार्थिको नय इति रहस्यम् ।
— संशोधकः ।

२. °भेदात् त्रिधा क ।

सत्त्वविशिष्टं चैतन्यं–'सच्चैतन्यमात्मनि वर्तते' इति वाक्ये चैतन्याख्य-धर्मस्य प्राधान्येन विवक्षा, तस्य विशेष्यत्वात्, सत्त्वाख्यधर्मस्य तु गौणत्वेन, तस्य चैतन्यविशेषणत्वादिति धर्मद्वयविषयको नैगमस्य प्रथमो भेदः ॥ ८ ॥

वस्तु पर्यायवद् द्रव्यमिति धर्मिणोः ॥ ९ ॥

अत्र 'पर्यायवद् द्रव्यं वस्तु च' इति धर्मिद्वयम्। 'पर्यायवद् द्रव्यं वस्तु वर्तते' इति विवक्षायां पर्यायवद् द्रव्याख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेनोपात्तत्वात् प्राधान्यम्, वस्त्वाख्यस्य तु धर्मिणो विशेषणत्वेन गौणत्वम्। अथवा किं वस्तु? 'पर्यायवद् द्रव्यमिति विवक्षायां वस्त्वाख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वात् प्राधान्यं, पर्यायवद् द्रव्याख्यस्य तु धर्मिणो विशेषणत्वेन गौणत्वमिति धर्मिद्वयविषयको नैगमस्य द्वितीयो भेदः ॥ ९ ॥

क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्म-धर्मिणोः ॥ १० ॥

अत्र विषयाऽऽसक्तजीवस्य प्राधान्यं, विशेष्यत्वेनोपात्तत्वात्, सुख-रूपस्य धर्मस्य तु अप्राधान्यं, विशेषणत्वेन निर्दिष्टत्वाद् इति धर्म-धर्मि-द्वयाऽऽलम्बनोऽयं नैगमस्य तृतीयो भेदः ॥ १० ॥

धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाऽऽभासः ॥ ११ ॥

आदिपदेन धर्मिद्वय-धर्मधर्मिद्वययोः संग्रहः। तथा च द्वयोर्धर्मयोः,

१. इति तु धर्म° क ख।
२. °सन्धिरैकान्तिकभेदाभिप्रायो नै° क।

द्वयोर्धर्मिणोः, धर्म-धर्मिणोर्वा विषये ऐकान्तिकभेदाभिप्रायो यः स नैगमाऽऽभास इत्यर्थः ॥ ११ ॥

यथा–आत्मनि सत्त्व-चैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादिः ॥ १२ ॥

एवं 'पर्यायवद् द्रव्यं वस्तु च परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते' सुखजीवयोश्च परस्परमात्यन्तिको भेद इत्याकारको योऽभिप्रायविशेषः स नैगमाऽऽभास इत्यर्थः ॥ १२ ॥

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः ॥ १३ ॥

सामान्यमात्रग्राही—सत्त्वद्रव्यत्वादिसामान्यमात्रविषयकः परामर्शः-अभिप्रायविशेषः संग्रहः । सममेकीभावेन पिण्डीभूततया विशेषराशिं गृह्णातीति संग्रह इति व्युत्पत्तेः ॥ १३ ॥

अयमुभयविकल्पः परोऽपरश्च ॥ १४ ॥

अयं संग्रहाख्यो नयः परसंग्रहभेदेन द्विभेद इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रहः ॥ १५ ॥

सामान्यं द्विविधं परसामान्यमपरसामान्यं च । तत्र शुद्धद्रव्यापरपर्यायं सत्ताऽऽख्यं परसामान्यम् । द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिकमपरसामा-

---

१. इत्यादि ख । २. सत्तामात्रं क । ३. परः संग्रहः ख ।

न्यम् । तत्र शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः समस्तविशेषेषु औदासीन्यं भजमानो योऽभिप्रायविशेषः स परसंग्रहाऽऽख्यो नयो बोद्धव्यः ॥१५॥

विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा ॥ १६ ॥

विश्वं–जगत्, एकम्–एकरसं, सदविशेषात्–'सत्' इत्याकारकज्ञानाभिधानाभ्यामविशेषरूपेण ज्ञायमानत्वात्, अनेनानुमानेन सकलविशेषेष्वौदासीन्यमवलम्बमानः सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणोऽभिप्रायविशेषः परसंग्रहः ॥ १६ ॥

सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान् निराचक्षाणस्तदाभासः ॥ १७ ॥

यथा–सत्तैव तत्त्वं, ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् ॥ १८ ॥

अद्वैतवादिनो हि सत्ताऽतिरिक्तं वस्त्वन्तरं नाङ्गीकुर्वन्ति, अतोऽद्वैतदर्शनं संग्रहाभासत्वेन ज्ञातव्यम् ॥ १८ ॥

द्रव्यत्वादीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः ॥ १९ ॥

---

१. जैनसिद्धान्ते द्रव्य-पर्याययोरात्यन्तिको भेदो निषिद्धः, तथा चोक्तवन्तः **सन्मतितर्के** प्रचण्डतार्किकचक्रचक्रवर्तिनः तत्रभवन्तः **श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः**—

"दव्वं पज्जवविउअं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि" ॥
(द्रव्यं पर्यववियुतं द्रव्यवियुक्ताश्च पर्यवा न सन्ति" ॥१-१२॥)

–संशोधकः मुनिहिमांशुविजयः ।

२. सदविशेषात् क । ३. परः संग्रहः ख ।

द्रव्यत्वमादिर्येषां पर्यायत्वप्रभृतीनां तानि द्रव्यत्वादीनि अवान्तर-सामान्यानि-सत्तारूपपरसामान्यापेक्षया कतिपयव्यक्तिनिष्ठत्वादवान्तर-सामान्यानि स्वीकुर्वाणः, तद्भेदेषु धर्माऽधर्माऽऽकाश-काल-पुद्गल-जीवादि-विशेषेषु द्रव्यत्वाद्याश्रयभूतेषु गजनिमीलिकाम्-उपेक्षामवलम्बमानः पुन-रपरसंग्रहः ॥ १९ ॥

धर्माधर्माऽऽकाश-काल-पुद्गल-जीवद्रव्याणामैक्यं, द्रव्यत्वाभेदादित्यादिर्यथा ॥ २० ॥

धर्माधर्मादीनामैक्यं द्रव्यत्वाभेदात्—'द्रव्यं द्रव्यम्' इत्यभिन्न-ज्ञानाभिधानलक्षणलिङ्गानुमितद्रव्यत्वाऽभेदादित्यर्थः । आदिपदेन चेतना-चेतनपर्यायाणामेकत्वं, पर्यायत्वाभेदादिति पर्यायाभेदसाधकमनुमानमपि बोध्यम् ॥ २० ॥

द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान् निह्नुवान-स्तदाभासः ॥ २१ ॥

द्रव्यत्वादिसामान्यमङ्गीकृत्य तद्विशेषान् धर्माधर्मादीन् प्रतिक्षिपन्न-भिप्रायविशेषस्तदाभासः—अपरसंग्रहाऽऽभास इत्यर्थः ॥ २१ ॥

यथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वं, ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणा-मनुपलब्धेरित्यादिः ॥ २२ ॥

ततः—द्रव्यत्वसकाशात्, अर्थान्तरभूतानां—धर्माधर्माऽऽकाशा-दीनाम् ॥ २२ ॥

---

१. धर्मास्तिकाया-ऽधर्मास्तिकायाख्यं गतिस्थितिनिमित्तं द्रव्यद्वयम् । —संशोधकः ।

२. °काशपुद्गल° क । ३. °लब्धेः क ।

व्यवहारनयं प्रदर्शयन्ति—

संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः ॥ २३ ॥

संग्रहनयेन विषयीकृतानामर्थानां सत्त्वद्रव्यत्वादीनां विधानानन्तरमवहरणं- विभागो येनाभिप्रायविशेषेण क्रियते सोऽभिप्रायविशेषो व्यवहारनयः ॥ २३ ॥

यथा-यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादिः[1] ॥ २४ ॥

आदिपदेन अपरसंग्रहविषयीकृतार्थविषयव्यवहारोदाहरणं द्रष्टव्यम् । यद् द्रव्यं तद् जीवाजीवादिभेदेन षट्प्रकारम् । यः पर्यायः स द्विविधः । सुख-दुःखादिरूपः क्रमभावी, विज्ञानव्यक्तिशक्त्यादिरूपः सहभावी च । एवं यो जीवः स मुक्तः संसारी च । यः क्रमभावी पर्यायः स क्रियारूपोऽक्रियारूपश्चेत्यादि ॥ २४ ॥

यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति[2] स व्यवहाराभासः ॥ २५ ॥

योऽभिप्रायविशेषो द्रव्य-पर्यायविभागमपारमार्थिकं-काल्पनिकं मन्यते स व्यवहाराऽऽभासः ॥ २५ ॥

यथा-चार्वाकदर्शनम्[3] ॥ २६ ॥

चार्वाको हि वस्तुनो द्रव्य-पर्यायात्मकत्वं नाङ्गीकरोति, किन्तु

---

१. वेत्यादि ख । २. °मार्थिकं द्रव्य° ख ।

३. बृहस्पतिप्रवर्तितं परलोकात्म-पुण्य-पाप-मोक्षनिषेधकं नास्तिकं मतम् ।

आगततः प्रतीयमानं भूतचतुष्टयात्मकं घट-पटादिरूपं पदार्थजातं पारमार्थिकं मन्यते, तदतिरिक्तं द्रव्यपर्यायविभागं काल्पनिकमिति। तस्मात् **चार्वाकदर्शनं** व्यवहाराऽऽभासमिति भावः ॥ २६ ॥

द्रव्यार्थिकं त्रेधाऽभिधाय पर्यायार्थिकं प्रपञ्चयन्ति—

पर्यायार्थिकश्चतुर्धा–ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूतश्च ॥ २७ ॥

ऋजु–वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः ॥ २८ ॥

ऋजु—अतीतानागतकालक्षणलक्षणकौटिल्यवैकल्यात् सरलम्। अयं भावः—योऽभिप्रायविशेषो वर्तमानक्षणस्थितपर्यायानेव प्राधान्येन दर्शयति तत्र विद्यमानद्रव्यं गौणत्वान्न मन्यते स ऋजुसूत्रः ॥ २८ ॥

यथा–सुखविवर्त्तः सम्प्रत्यस्तीत्यादिः ॥ २९ ॥

यद्यपि सुख-दुःखादयः पर्याया आत्मद्रव्यं विहाय कदापि न भवन्ति, तथापि पर्यायस्य यदा प्राधान्येन विवक्षा क्रियते द्रव्यस्य च गौणत्वेन तदा भवत्येवं प्रयोगः " सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्ति " इति, एवं दुःखपर्यायोऽधुना वर्तते इत्यादिकमूहनीयम् ॥ २९ ॥

सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः ॥ ३० ॥

यः पर्यायानेव स्वीकृत्य सर्वथा द्रव्यमपलपति सोऽभिप्रायविशेष ऋजुसूत्राऽऽभास इत्यर्थः ॥ ३० ॥

---

१. पृथव्यप्तेजोवायव इति भूतचतुष्टयम्। –संशोधकः

२. °त्यादि क।

यथा–तथागतमतम् ॥ ३१ ॥

तथागतमतम्—**बौद्धमतम्**। बौद्धो हि प्रतिक्षणविनश्वरान् पर्यायानेव पारमार्थिकत्वेनाभ्युपगच्छति, प्रत्यभिज्ञादिप्रमाणसिद्धं त्रिकालस्थायि तदाधारभूतं द्रव्यं तु तिरस्कुरुते इत्येतन्मतमृजुसूत्राभासत्वेनोपन्यस्तम् ॥ ३१ ॥

कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ॥ ३२ ॥

कालादिभेदेन — काल-कारक-लिङ्ग-संख्या-पुरुषोपसर्गभेदेन, ध्वनेः–शब्दस्य अर्थभेदं प्रतिपद्यमानोऽभिप्रायविशेषः शब्दनयः ॥३२॥

यथा–बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः ॥ ३३ ॥

यद्यपि सुमेरोर्द्रव्यरूपतयाऽभिन्नत्वात् पर्यायरूपतया च भिन्नत्वाद् भिन्नाभिन्नत्वं वर्तते, तथाऽपि शब्दनयो विद्यमानमपि कनकाचलस्य द्रव्यरूपतयाऽभेदमुपेक्ष्य केवलं भूत-वर्तमान-भविष्यल्लक्षणकालत्रयभेदाद् भेदमेवावलम्बते। आदिपदेन 'करोति क्रियते कुम्भः' इति कारकभेदे। 'तटस्तटी तटम्' इति लिङ्गभेदे। 'दाराः कलत्रम्' इति संख्याभेदे। 'एहि मन्ये रथेन यास्यति, नहि यास्यसि, यातस्ते पिता' इति पुरुषभेदे। 'सन्तिष्ठते, उपतिष्ठते' इत्युपसर्गभेदेऽप्यर्थस्य भिन्नत्वं स्वीकरोति ॥३३॥

तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ॥ ३४ ॥

---

१. °त्वादि क।

तद्भेदेन—कालादिभेदेन, तस्य—ध्वनेः, तमेव—अर्थभेदमेव, समर्थयमानस्तदाभासः शब्दनयाऽऽभास इत्यर्थः ।

अयं भावः—योऽभिप्रायः कालादिभेदेन शब्दस्यार्थभेदमेव, समर्थयते द्रव्यरूपतयाऽभेदं पुनः सर्वथा तिरस्करोति स शब्दनयाऽऽभासः ॥ ३४ ॥

यथा—बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्, तादृक्सिद्धान्यशब्दवदित्यादिः ॥ ३५ ॥

अत्रानुमाने "बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति" इति पक्षः । "भिन्नकालशब्दत्वात्" इति हेतुः । "तादृक्सिद्धान्यशब्दवद्" इति दृष्टान्तः । अनेनानुमानेन कालादिभेदेनार्थमेव स्वीकुर्वन् त्रिष्वपि कालेषु विद्यमानमप्यभिन्नं द्रव्यं सर्वथा तिरस्कुर्वन्नभिप्रायविशेषः शब्दनयाऽऽभासः ॥ ३५ ॥

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः ॥ ३६ ॥

पर्यायशब्देषु—इन्द्र-पुरन्दरादिशब्देषु, निरुक्तिभेदेन—निर्वचनभेदेन, भिन्नमर्थं समभिरोहन्—अभ्युपगच्छन् समभिरुढः ॥ ३६ ॥

इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा ॥ ३७ ॥

---

१. °धतीत्यादि भिन्न° क । २. इत्यादिर्यथा । क ।

अयमर्थः—यद्यपि इन्द्र-शक्रादयः शब्दा इन्द्रत्व-शक्रत्वादिपर्यायविशिष्टस्यार्थस्य वाचकाः, न केवलं पर्यायस्य, तथापि समभिरूढनयवादी गौणत्वाद् द्रव्यवाचकत्वमुपेक्ष्य प्रधानत्वात् पर्यायवाचकत्वमेवाङ्गीकुर्वन् 'इन्द्रादयः शब्दाः प्रतिपर्यायबोधकत्वाद्, भिन्नभिन्नार्थवाचकाः' इति मन्यते। शब्दनयो हि नानापर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमेवाभिप्रैति, समभिरूढस्तु पर्यायभेदे अर्थभेदं प्रतिपद्यते इति विशेषः ॥ ३७ ॥

पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः ॥ ३८ ॥

यः पर्यायशब्दानामभिधेयनानात्वमेवाभिप्रैति एकार्थाभिधेयत्वं पुनरमुष्य सर्वथा तिरस्कुरुते स तदाभासः समभिरुढाऽऽभासः ॥ ३८ ॥

यथा—इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दरः इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करि-कुरङ्ग[2]-तुरङ्गशब्दवदित्यादिः ॥३९॥

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं[3] वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवंभूतः ॥४०॥

शब्दानाम्—इन्द्रादिशब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तीभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं—इन्द्रादिशब्दप्रवृत्तौ निमित्तीभूता या इन्दनादिक्रिया तद्विशिष्टमर्थं यो वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छति, क्रियाऽनाविष्टं तु उपेक्षते स एवंभूतः। अयं

---

१. "इदु परमैश्वर्ये, शक्लृंट् शक्तौ" हैमधातुपाठः।—सं०

२. °कुरङ्गशब्दवदित्यादि क।

३. °क्रियाविशिष्टमर्थं ख।

हि इन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिशब्दवाच्यमभिमन्यते । समभिरूढस्तु इन्दनादिक्रियायां विद्यमानायामविद्यमानायां च इन्द्रादिशब्दवाच्यत्वमभिप्रैति इत्यनयोर्भेदः ॥ ४० ॥

यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः, शकनक्रियापरिणतः शक्रः, पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर[1] इत्युच्यते ॥ ४१ ॥

क्रियाऽनाविष्टं[2] वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः ॥ ४२ ॥

यः शब्दानां क्रियाऽऽविष्टमेवार्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छति क्रियानाविष्टं तु सर्वथा निराकरोति स एवम्भूतनयाऽऽभासः ॥ ४२ ॥

यथा-विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटवदित्यादि[2]: ॥ ४३ ॥

अयमस्याशयः—चेष्टार्थकाद् घट[3]धातोर्निष्पन्नत्वाद् घटशब्दस्य चेष्टाविरहितो घटरूपोऽर्थो वाच्यो न भवितुमर्हति, घटशब्दप्रवृत्तौ निमित्तभूता या चेष्टाऽऽख्या क्रिया तच्छून्यत्वात्, पटवत् । यथा-पटो घटीयचेष्टाशून्यत्वाद् घटशब्दवाच्यो न भवति, तथैव चेष्टाशून्यो घटोऽपि घटपदवाच्यो न भवति ॥ ४३ ॥

---

१. "पुराणि अरीणां दारयति, त्रिपुरं वा पुरन्दरः" इति **हैमकोशटीका** ।

२. °नाविशिष्टं **ख** । २ त्यादि **क** ।

३. "**घटिष्** चेष्टायाम्" इतिहैमधातुपाठः ।—संशोधकः ।

एतेषु चत्वारः प्रथमे, अर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थ-नयाः ॥ ४४ ॥

एतेषु-नैगमादिषु सप्तसु नयेषु । प्रथमे-आद्याः ॥ ४४ ॥

शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः ॥ ४५ ॥

पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परि-मितविषयः ॥ ४६ ॥

प्रचुरगोचरः—अधिकविषयावगाही ॥ ४६ ॥

सन्मात्रगोचरात् संग्रहाद् नैगमो भावाभावभूमि-कत्वाद् भूमविषयः ॥ ४७ ॥

संग्रहनयो हि सन्मात्रविषयत्वाद् भावावगाह्येव, नैगमस्तु भावा-भावविषयत्वादुभयावगाहीति बहुविषयः ॥ ४७ ॥

सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्त-सत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषयः ॥४८॥

व्यवहारो हि कतिपयान् सत्त्वविशिष्टान् पदार्थान् प्रकाशयती-त्यल्पविषयः, संग्रहस्तु समस्तं सद्विशिष्टं वस्तु प्रकाशयतीति भूमविषयः ॥ ४८ ॥

वर्तमानविषयादृजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयाव-लम्बित्वादनल्पार्थः ॥ ४९ ॥

---

१. शेषास्त्रयः ख

ऋजुसूत्रो वर्तमानक्षणस्थायिनः पदार्थान् प्रकाशयतीत्यल्पविषयः, व्यवहारस्तु कालत्रयवर्तिपदार्थजातमवलम्बत इति बहुविषयः ॥ ४९ ॥

कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वाद् महार्थः ॥ ५० ॥

शब्दनयो हि कालादिभेदेन पदार्थभेदमङ्गीकरोतीत्यल्पविषयः, ऋजुसूत्रस्तु कालादिऽभेदेऽप्यभिन्नमर्थं प्रदर्शयतीत्यनल्पार्थः ॥ ५० ॥

प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात् प्रभूतविषयः ॥५१॥

पर्यायशब्दानां व्युत्पत्तिभेदेन भिन्नार्थतामभ्युपगच्छतीति समभिरूढोऽल्पविषयः, शब्दनयस्तु पर्यायशब्दानां व्युत्पत्तिभेदेनाप्यभिन्नार्थतामङ्गीकरोतीति बहुविषयः ॥ ५१ ॥

प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यार्थस्थापकत्वाद् महागोचरः ॥५२॥

क्रियाभेदेनार्थभेदमभ्युपगच्छत एवंभूतात् क्रियाभेदेऽप्यर्थाऽभेदं प्रतिपादयन् समभिरूढोऽनल्पविषयः ॥ ५२ ॥

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधि-प्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

---

१. नयसप्तभङ्ग्योः कीदृशी स्थापनापद्धतिः ? कीदृशश्च वचनप्रकारः ? इति नयविद्याविदः सुधियो यदि स्पष्टं लिखेयुस्तदा नयतात्पर्यजिज्ञासूनां महानुपकारो भवेत् । कष्टमत्र यदन्विष्यमाणेऽपि न कुत्राऽपि संशयोच्छेदकारिणो स्फुटताऽस्मिन् विषये दृष्टाऽस्माभिः । आधुनिका विशिष्टविद्वांसः

यथा प्रमाणवाक्यं विधि-प्रतिषेधाभ्यां प्रवर्तमानं सप्तभङ्गीमनुगच्छति, तथैव नयवाक्यमपि स्वविषये—स्वप्रतिपाद्ये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां—परस्परविभिन्नार्थनययुग्मसमुत्थविधि-निषेधाभ्यां कृत्वा सप्तभङ्गीत्वमनुगच्छति ॥ ५३ ॥

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ॥ ५४ ॥

अयमर्थः—यथा प्रमाणात् प्रमाणफलं भिन्नाऽभिन्नं, तथैव नयान्नयफलमपि भिन्नाऽभिन्नमेव । यथा प्रमाणस्याऽऽनन्तर्येण फलं वस्त्वज्ञाननिवृत्तिः, तथैव नयस्यापि वस्त्वंशाज्ञाननिवृत्तिः फलम् । यथा प्रमाणस्य पारम्पर्येण हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलं, तथा नयस्यापि वस्त्वंशविषयकहानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलमिति प्रमाणवन्नयस्यापि फलं व्यवस्थापनीयम् ॥ ५४ ॥

प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा ॥ ५५ ॥

'प्रत्यक्षादि' इत्यत्राऽऽदिपदेन अनुमानादीनां संग्रहः । तत्र प्रत्यक्षेण तावद् 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' इत्यादिप्रतीत्या सुखाद्याधारतयाऽहंप्रत्ययगोचरः शरीरादिविलक्षण आत्मा सिध्यति । अनुमानेन यथा—चैतन्यं तन्वादिविलक्षणाऽऽश्रयाश्रितम्, तत्र (शरीरादिषु) बाधकोपपत्तौ सत्यां कार्यत्वान्यथाऽनुपपत्तेः । न तावदयं हेतुर्विशेष्याऽसिद्धः,

---

प्रार्थ्यन्ते मया यत्ते नयसप्तभङ्गीवचनविधिं स्पष्टतया प्रकाशयेयुः । "स्यात्" "एव" इत्यनयोः प्रयोगो नयसप्तभङ्ग्यां विधेयो न वा ? विधेयश्चेत् को विशेषस्तर्हि प्रमाणनयसप्तभङ्गवचनप्रकारयोः ? न चेद् विधेयस्तदा कया युक्त्या ? कस्माद् वा प्रमाणात् ? इत्यादीनि शङ्कास्थानान्यवश्यं समाधेयानि समाहितबुद्धिभिः । —सं०

घटपटादिज्ञानानां कादाचित्कत्वेन पटादिवत् कार्यत्वप्रसिद्धेः । न च विशेषणाऽसिद्धः, 'शरीरेन्द्रियविषयाः चैतन्यधर्माणो न भवन्ति, रूपादिमत्त्वात्, भौतिकत्वाद् वा, घटवद्' इत्यनुमानेन शरीरादिषु चैतन्यस्य बाधितत्वात् । नाप्ययं व्यभिचारी विरुद्धो वा, विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वात् । "उपयोगलक्षणो जीवः" इत्यादिस्वरूपेणाऽऽगमेनाप्यात्मनः सिद्धिर्भवतीति ॥ ५५ ॥

चैतन्यस्वरूपः, परिणामी, कर्ता, साक्षाद्भोक्ता, स्वदेहपरिमाणः, प्रतिक्षेत्रं भिन्नः, पौद्गलिकाऽदृष्टवांश्चायम् ॥ ५६ ॥

"चैतन्यस्वरूपः" इत्यनेन जडाऽऽत्मवादिनां **नैयायिकादीनां** निरासः । "परिणामी" इत्यनेन कूटस्थनित्यतावादिनां **सांख्यादीनां** तिरस्कारः । "कर्त्ता साक्षाद्भोक्ता" इतिविशेषणद्वयेन **कापिलमतं** पराकृतम् । "स्वदेहपरिमाणः" इत्यनेन व्यापकाऽऽत्मवादिनां **नैयायिकादीनां** प्रतिक्षेपः । "प्रतिक्षेत्रं भिन्नः" इत्यनेनैकाऽऽत्मवादिनाम**द्वैतवेदान्तिनां** खण्डनम् । "पौद्गलिकादृष्टवांश्चायम्" इत्यनेनादृष्टस्याऽपौद्गलिकत्वमभ्युपगच्छतां **नैयायिकादीनां** निरासः ॥ ५६ ॥

---

१. युञ्जनं योगः—ज्ञान-दर्शनयोः प्रवर्तनं—विषयावधानाभिमुखता । सामीप्यवर्ती योग उपयोगः—नित्यः संबन्ध इत्यर्थः । स च ज्ञानादिभेदेन द्वादशविधः, तत्रैकतमो जघन्यतया जीवस्य भवत्येवोपयोगः । —सं० ।

२. °वांश्च क । ३. सांख्यमतम् ।

तस्योपात्तपुंस्त्रीशरीरस्य सम्यग्ज्ञान-क्रियाभ्यां कृत्स्नकर्मक्षयस्वरूपा सिद्धिः ॥ ५७ ॥

तस्य-निर्दिष्टस्वरूपस्याऽऽत्मनः, उपात्तपुंस्त्रीशरीरस्य गृहीतपुरुष-स्त्रीशरीरस्य। इदं विशेषणं स्त्रीनिर्वाणद्वेषिणां **दिगम्बराणां** मतमत्यसितुं, नपुंसकस्य मोक्षाऽभावज्ञापनार्थं च। "सम्यग्ज्ञान-क्रियाभ्याम्" इतिद्वन्द्वेन सम्यग्ज्ञान-क्रिययोः समुच्चित्य कारणत्वं प्रत्येकस्येति प्रदर्शितम्। सम्यग्ज्ञानपदेनैव सम्यग्दर्शनस्यापि प्राप्तत्वात् पृथक्त्वेन न निदर्शितम्। ज्ञान-क्रिययोः सम्यक्त्वविशेषणप्रदानेन मिथ्याज्ञानपूर्विकायाः कन्दमूलादिभक्षणरूपाया वा क्रियाया मोक्षकारणत्वं निरस्तं भवति। "कृत्स्नकर्मक्षयस्वरूपा सिद्धिः" इत्यनेन **नैयायिकाभिमत**-ज्ञानादिगुणोच्छेदरूपायाः सिद्धेर्निरासः ॥ ५७ ॥

इति बालबोधिन्याख्यया टिप्पण्या विभूषिते श्रीवादिदेव सूरिसंदृब्धे श्रीप्रमाणनयतत्त्वाऽऽलोके नयतदाभासाऽऽत्मस्वरूपनिर्णायको नाम सप्तमः परिच्छेदः।

---

१. किञ्चित्कर्मविशेषेऽपि मोक्षो न भवितुमर्हतीत्यर्थमवलम्ब्यैव निम्न-लिखितो मदीयः श्लोक उदितः—

"तृष्णासमाप्तिर्जगतां भवेद् यदि शुष्यन्ति हेतुं च विनैव सागराः।
सदागतिश्चेत् स्थिरतां भजेत् सदा मोक्षस्तदा कर्मविनाशनाद् विना ॥"

—सं०

अष्टमः परिच्छेदः ।

विरुद्धयोर्धर्मयोरेकधर्मव्यवच्छेदेन स्वीकृततदन्य-धर्मव्यवस्थापनार्थं साधन-दूषणवचनं वादः ॥ १ ॥

एकाधिकरणैककालयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोर्मध्यादेकधर्मव्यवच्छेदेन, एकस्य—कथञ्चिन्नित्यत्वस्य एकान्तनित्यत्वस्य वा धर्मस्य, व्यवच्छेदेन-निराकरणेन, स्वीकृततदन्यधर्मस्य कथञ्चिन्नित्यत्वस्य वा व्यवस्थापनार्थं, साधन-दूषणवचनं—स्वपक्षस्य साधनवचनं, परपक्षस्य च दूषणवचनं वाद इत्यभिधीयते ॥ १ ॥

प्रारम्भकश्चात्र जिगीषुः तत्त्वनिर्णिनीषुश्च ॥ २ ॥

अत्र—वादे । प्रारम्भकः-वादस्य प्रारम्भकः-वादीति यावत् । जिगीषुः-ज्येच्छावान्, तत्त्वनिर्णिनीषुश्च—तत्त्वनिर्णयेच्छावांश्च भवतीति शेषः ॥ २ ॥

स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधन-दूषणाभ्यां परं पराजेतुमिच्छुर्जिगीषुः ॥ ३ ॥

स्वीकृतो यो धर्मः कथञ्चिन्नित्यत्वादिस्तस्य व्यवस्थापनार्थं साधन-दूषणाभ्यां—स्वपक्षसाधनेन परपक्षदूषणेन च, परं—प्रतिवादिनं पराजेतुमिच्छुर्जिगीषुः ॥ ३ ॥

तथैव तत्त्वं प्रतितिष्ठापयिषुस्तत्त्वनिर्णिनीषुः ॥ ४ ॥

तथैव—स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं, साधन-दूषणाभ्यां कथञ्चिन्नित्य-त्वादिस्वरूपं तत्त्वं प्रतिष्ठापयितुमिच्छुस्तत्त्वनिर्णिनीषुः ॥ ४ ॥

अयं च द्वेधा–स्वात्मनि परत्र च ॥ ५ ॥

'अयं च–तत्त्वनिर्णिनीषुः, द्वेधा–द्विप्रकारः, स्वाऽऽत्मनि परत्र च। कश्चित् तत्त्वेषु सन्देहात् स्वात्मनि तत्त्वनिर्णयमिच्छति, कश्चित् तु परोपकारैकपरायणतया परत्र-अन्याऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णयमभिकाङ्क्षतीति ॥५॥

आद्यः शिष्यादिः ॥ ६ ॥

आद्यः — स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुः शिष्यादिः । आदिपदेन मित्रादयो ग्राह्याः ॥ ६ ॥

द्वितीयो गुर्वादिः ॥ ७ ॥

द्वितीयः—परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुः ॥ ७ ॥

अयं द्विविधः—क्षायोपशमिकज्ञानशाली केवली च ॥ ८ ॥

अयं परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुर्गुर्वादिः, द्विविधः–द्विप्रकारः । ज्ञानावरणीयस्य कर्मणः क्षयोपशमेनोत्पन्नं यत् मति-श्रुतावधि–मनःपर्यायरूपं ज्ञानं यस्यास्ति स क्षायोपशमिक ज्ञानशाली, एकः । ज्ञानावरणीस्य कर्मणः क्षयेणोत्पन्नं यत् केवलज्ञानं तद्वान् केवली, द्वितीयः । तदेवं चत्वारः प्रारम्भका वादिनः–१ जिगीषुः, २ स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुः, ३ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुक्षायोपशमज्ञानशाली, ४ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुकेवली चेति ॥ ८ ॥

एतेन प्रत्यारम्भकोऽपि व्याख्यातः ॥ ९ ॥

एतेन–प्रारम्भकभेदप्रभेदप्रतिपादनेन, प्रत्यारम्भकोऽपि व्याख्यातः–प्रतिवादिनोऽपि भेद-प्रभेदा वर्णिता एवेत्यर्थः ।

एवं च प्रत्यारम्भकस्यापि, १ जिगीषुः, २ स्वात्मनि तत्त्व-

निर्णिनीषुः, ३ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुक्षायोपशमिकज्ञानशाली, ४ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुकेवली चेति चत्वारो भेदाः। तत्र यद्यपि आरम्भक-प्रत्यारम्भकयोः परस्परवादे षोडश भेदाः प्राप्नुवन्ति, तथाहि—

१ जिगीषोः जिगीषुणा,

२ स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुणा,

३ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुक्षायोपशमज्ञानशालिना,

४ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुकेवलिना चेति चत्वारः।

एवं स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषोः,

५ जिगीषुणा,

६ स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुणा,

७ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुक्षायोपशमज्ञानशालिना,

८ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुकेवलिना चेति चत्वारः। एवमेव परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुक्षायोपशमिकज्ञानशालिनः। परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुकेवलिनश्च जिगीषुप्रभृतिभिश्चतुर्भिस्सह मिलित्वा अष्टौ इति षोडशभेदाः। तथापि—

१ जिगीषोः स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुणा,

२ स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषोर्जिगीषुणा,

३ स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषोः स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुणा,

४ केवलिनः केवलिना च सह वादो न सम्भवतीति **षोडश**-भेदेभ्यश्चतुरो भेदान् पातयित्वा **द्वादशैव भेदा** अवशिष्यन्ते ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमे प्रथम-तृतीय-तुरीयाणां चतुरङ्ग एव, अन्यतमस्याप्यङ्गस्यापाये जय-पराजय-व्यवस्थादिदौःस्थ्याऽऽपत्तेः ॥१०॥

अयमर्थः—तत्र चतुर्षु प्रारम्भकेषु वादिषु मध्ये यदा जिगीषुः प्रारम्भको वादी भवति, एवं जिगीषुः, परत्र तत्त्वनिर्णिणीषुक्षायोपशमज्ञानशाली, परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुकेवली वा प्रतिवादी भवति तदा वादि-प्रतिवादि-सभ्य-सभापतिलक्षणश्चतुरङ्ग एव वादो भवति। एषु अन्यतमस्याप्यपाये-अभावे सति जय-पराजयव्यवस्था एव न स्यात्, वादिनो जिगीषुत्वेन शाठ्यकलहादिसम्भवात् ॥ १० ॥

द्वितीये तृतीयस्य कदाचिद् द्व्यङ्गः कदाचित् त्र्यङ्गः ॥ ११ ॥

द्वितीये—स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषौ वादिनि सति, तृतीयस्य परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुक्षायोपशमज्ञानशालिनः, कदाचिद् द्व्यङ्गः—द्वे वादि-प्रतिवादिलक्षणे अङ्गे यस्य स द्व्यङ्गो वादो भवति। कदाचित् त्र्यङ्गः—वादि-प्रतिवादि-सभ्यलक्षणस्त्र्यङ्गो वा वादो भवति।

अयमर्थः—यदा परत्र तत्त्वनिर्णिषुक्षायोपशमज्ञानशाली प्रतिवादी स्वयमेव वादिनि जय-पराजयनिरपेक्षतया तत्त्वनिर्णयं कर्तुं समर्थः, तदा इतरस्य सभ्य-सभापतिरूपस्याङ्गद्वयस्याभावाद् द्व्यङ्ग एव वादो भवति। यदा तु कृतप्रयत्नेनापि प्रतिवादिना वादिनि तत्त्वनिर्णयो न कर्तुं शक्यते तदा तन्निर्णयार्थं सभ्यानामपेक्ष्यमाणत्वात् त्र्यङ्गो वादो भवति। स्वपरोपकारायैव प्रवृत्तयोरनयोः शाठ्यकलहाऽऽद्यसम्भवेन सभापतेरनपेक्षणीयत्वादिति भावः ॥ ११ ॥

तत्रैव द्व्यङ्गस्तुरीयस्य ॥ १२ ॥

तत्रैव—स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषौ वादिनि सति, तुरीयस्य परत्र

तत्त्वनिर्णिनीषोः केवलिनः, द्व्यङ्गः—वादि-प्रतिवादिलक्षणो द्व्यङ्ग एव वादो भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

तृतीये प्रथमादीनां यथायोगं पूर्ववत् ॥ १३ ॥

तृतीये—परत्र तत्त्वनिर्णिनीषौ क्षायोपशमज्ञानशालिनि वादिनि सति, जिगीषोः प्रतिवादिनश्चतुरङ्गः, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषोः, परत्र तत्त्वनिर्णिनीषोः, क्षायोपशमज्ञानशालिनश्च प्रतिवादिनो द्व्यङ्गः, कदाचित् त्र्यङ्गः परत्र तत्त्वनिर्णिनीषोः केवलिनो द्व्यङ्गः एव वादो भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

तुरीये प्रथमादीनामेवम् ॥ १४ ॥

परत्र तत्त्वनिर्णिनीषौ केवलिनि वादिनि सति प्रथमस्य-जिगीषोः चतुरङ्गो वादो भवति । तथाचोक्तम्—

" प्रारम्भकापेक्षतया यदेवमङ्गव्यवस्था लभते प्रतिष्ठाम् ।
संचिन्त्य तस्मादमुमादरेण प्रत्यारभेत प्रतिभाप्रगल्भः ॥ "

इति ॥ १४ ॥

वादि-प्रतिवादि-सभ्य-सभापतयश्चत्वार्यङ्गानि ॥ १५ ॥

वादस्येति शेषः ॥ १५ ॥

प्रारम्भक-प्रत्यारम्भकावेव मल्ल-प्रतिमल्लन्यायेन वादिप्रतिवादिनौ ॥ १६ ॥

यौ प्रारम्भक-प्रत्यारम्भकपदाभ्यां पूर्वमुक्तौ तावेव वादिप्रतिवादि-शब्दाभ्यां व्यपदिश्येते ॥ १६ ॥

प्रमाणतः स्वपक्षस्थापन-प्रतिपक्षप्रतिक्षेपावनयोः कर्म ॥ १७ ॥

वादिना स्वपक्षस्य स्थापनं प्रतिवादिपक्षस्य खण्डनं चेति द्वितयं कर्तव्यम् । एवं प्रतिवादिनापि स्वपक्षस्थापनं वादिपक्षप्रतिक्षेपश्चेति द्वयं कर्तव्यम् । अन्यतरस्याप्यभावे तत्त्वनिर्णय एव न स्यादिति भावः । तदुक्तम्—

"मानेन पक्ष-प्रतिपक्षयोः क्रमात् प्रसाधनक्षेपणकेलिकर्मठौ ।
वादेऽत्र मल्ल-प्रतिमल्लनीतितो वदन्ति वादि-प्रतिवादिनौ बुधाः ॥"

॥ १७ ॥

वादिप्रतिवादिसिद्धान्ततत्त्वनदीष्णत्व-धारणाबाहुश्रुत्य-प्रतिभा-क्षान्ति-माध्यस्थ्यैरुभयाभिमताः सभ्याः ॥ १८ ॥

---

१. स्वपक्षस्थापनकाले वादिना साधनमुक्त्वा, संभाव्यमानतद्दोषोद्धारोऽपि स्वप्रौढत्वप्रदर्शनाय कार्यः । तथा चोक्तम्—

"स्वपक्षसिद्धये वादी साधनं प्रागुदीरयेत् ।
यदि प्रौढिः प्रिया तत्र दोषानपि तदुद्धरेत् ॥"

२. "दूषणं परपक्षस्य स्वपक्षस्य च साधनम् ।
प्रतिवादी द्वयं कुर्याद् भिन्नाऽभिन्नप्रयत्नतः ॥"

प्रतिवादिदत्तदोषेषु वादिहेतोर्विरुद्धहेत्वाभासत्वप्रदर्शनं मुख्यदोषः, तत्प्रदर्शनेन प्रतिवादी वादिनमवश्यं झटिति च जयतितराम् । तथा च कथितवान् दर्शनान्तरोद्भावितानेककलङ्को भट्टारकाकलङ्कः—

"विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः ।
आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते ॥"

—संशोधकः मुनिर्हिमांशुविजयः ।

नदीष्णत्वं—कुशलत्वं, शेषं स्पष्टम् ॥ १८ ॥

वादि-प्रतिवादिनोर्यथायोगं वादस्थानककथाविशेषाङ्गी-कारणाऽग्रवादोत्तरवादनिर्देशः, साधकबाधकोक्ति-गुणदोषावधारणं, यथावसरं तत्त्वप्रकाशनेन कथाविरमणं, यथासम्भवं सभायां कथा-फलकथनं चैषां कर्माणि ॥ १९ ॥

यदा वादि-प्रतिवादिनौ स्वयमनङ्गीकृतपक्षप्रतिपक्षौ प्रवर्तेते तदा 'त्वया शब्दस्य नित्यत्वं साधनीयं त्वया च कथञ्चिन्नित्यत्वम्' इत्येवं-रूपयोः पक्षप्रतिपक्षयोरङ्गीकारणा, सर्वानुवादेन वा वक्तव्यम्' इत्येवं-रूपस्य कथाविशेषस्याङ्गीकारणा, 'अनेन प्रथमं वक्तव्यमनेन पश्चात्' इत्यग्रवादोत्तरवादनिर्देशः, वादि-प्रतिवादिभ्यामभिहितयोः साधकबाधक-वचनयोर्गुणदोषावधारणं, यदा एकेन प्रतिपादितमपि तत्त्वमन्येन नाभ्युपगम्यते, यदा वा द्वावपि तत्त्वपराङ्मुखमुदीरयन्तौ न विरमतः तदा तत्त्वप्रकाशनेन तयोर्विरमणं, जय-पराजयादिरूपं वादफलकथनं चैषां-सभ्यानां कर्माणि कर्तव्यानि ॥ १९ ॥

प्रज्ञाऽऽज्ञैश्वर्य-क्षमा-माध्यस्थ्यसम्पन्नः सभापतिः ॥ २० ॥

वादि-सभ्याभिहितावधारणं कलहव्यपोहादिकं चास्य कर्म ॥ २१ ॥

---

१. °प्रकाशेन क । २. वादिप्रतिवादिसभ्या° क ।

वादि-प्रतिवादिभ्यां सभ्यैश्च कथितस्यावधारणं, कलहनिराकरणम्, आदिना पारितोषिकवितरणादिकं चास्य सभापतेः कर्म-कर्तव्यम् ॥ २१ ॥

सजिगीषुकेऽस्मिन् यावत्सभ्यापेक्षं स्फूर्तौ वक्तव्यम् ॥ २२ ॥

जिगीषुणा जिगीषुभ्यां जिगीषुभिर्वा सह वर्तत इति सजिगीषुकेऽस्मिन् वादे, यावत् सभ्या अपेक्षन्ते स्फूर्तौ सत्यां-प्रतिपादनोत्साहे सति, तावद् वक्तव्यम् ॥ २२ ॥

उभयोस्तत्त्वनिर्णिनीषुत्वे यावत्तत्त्वनिर्णयं यावत्स्फूर्ति च वाच्यम् ॥ २३ ॥

उभयोः—वादि-प्रतिवादिनोस्तत्त्वनिर्णिनीषुत्वे यावता तत्त्वनिर्णयो भवति तावत् स्फूर्तौ सत्यां वक्तव्यम्, अनिर्णये वा यावत्स्फुरति तावद्वक्तव्यम् ॥ २३ ॥

छात्राणामुपकाराय रामगोपालशर्मणा ।
वसु-सिध्यङ्क-भूम्यब्दे (१९८८) टिप्पणीयं विनिर्मिता ॥

इतिबालबोधिन्याख्यया टिप्पण्या विभूषिते श्रीवादिदेवसूरिसंदृब्धे प्रमाणनयतत्त्वाऽऽलोके वाद-वादि-सभ्य-सभापतिस्वरूपनिर्णायको नामाष्टमः परिच्छेदः,

[तत्समाप्तौ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।] ॥

*

समाप्तिवचनम्

नवयुगप्रवर्तक-उपरियालाप्रभृतितीर्थोद्धारक-बम्बईजैनस्वयंसेवक-मण्डल-पालीतानाजैनगुरुकुलसंस्थापक-प्रमाणपरिभाषादिग्रन्थरचयितुः शास्त्रविशारद-जैनाचार्य-स्व० श्रीविजयधर्मसूरीश्वरस्य शिष्योत्तमः अद्वितीयवक्तृत्वशक्तिधारक-शासनदीपक-पूज्य गुरुदेव-श्रीविद्याविजयस्य शिष्येण न्याय-साहित्य-व्याकरणतीर्थोपाधिना, कुमारश्रमणेन पूर्णानन्द-विजयेन संपादितोऽयं ग्रन्थः ।

शुद्धिपत्रकम् ।

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७	१६	°त्वेनव	°त्वेनैव
१६	१९	°यमनिब°	°मनिब°
१८	१२	°काङ्क्षीण°	°काङ्क्षण°
१९	११	इत्यका°	इत्याका°
२२	२	°मलम्ब्यो°	°मवलम्ब्यो°
२२	५	°माथिकं	°मार्थिकं
३२	१०	खलु प्रक्ष°	खलु पक्ष°
३८	१८	हेताः सा°	हेतोः सा°
४२	१७	°रोत्तरसह°	°रोत्तरचरसह°
४४	१५	भवेत्ये°	भवत्ये°
४९	३	अत्र पति°	अत्र प्रति°
५६	६	°दादिदाष°	°दादिदोष°
५७	२१	°वत्त्वासिद्धेः	°वत्त्वसिद्धेः
५९	१४	वाक्प्रयागः	वाक्प्रयोगः
५९	१५	°जीवादा	°जीवादौ
६१	१६	°भावैरव	°भावैरेव
६८	७	'कमार्पि°	°क्रमार्पि°
९०	१६	ब्रते	ब्रूते
९७	२	साध्यधर्मे	साध्यधर्मो
१०९	१३	परसंग्रहमे°	परापरसंग्रहमे°
११९	१	°भङ्ग्योः	°भङ्ग्याः
१२१	१	°दिवत	°दिवत्
१२४	४	तत्त्वानि°	तत्त्वनि°
१२७	१३	°दरण	°दरेण